एकै साधे सब सधैं

मेवाड़केसरी पूज्य प्रवर्त्तक गुरुदेव

श्री मोहनलाल जी म. के विद्वान सुशिष्य

व्याख्यानवाचस्पति, कवि कुलदिवाकर

श्री महेन्द्र मुनि 'कमल'

प्रकाशक

तपोधन समिति

भीलवाड़ा (राज०)

☐ पुस्तक :
एकै साधे सब सधे

☐ लेखक :
श्री महेन्द्र मुनि 'कमल'

☐ संप्रेरक :
श्री प्रदीप मुनि जी
श्री अरविंद मुनि जी
धर्मप्रिय श्री गणपतसिंह जी झामड

☐ प्रकाशक ·
तपोधन समिति
भीलवाडा (राज)

☐ अर्थ सहयोग
उदार हृदय, धर्मप्रिय सुश्रावक
श्री भंवरलाल जी दीपचन्द जी वैद महता
सुभाष चौक, सीकर
फर्म राजस्थान टेक्सटाइल्स
२४, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

☐ मूल्य .
पन्द्रह रुपये मात्र

☐ मुद्रक
दिवाकर प्रकाशन के लिए
श्रुति प्रिंटर्स, आगरा-2



मेवाड़ केसरी प्रवर्तक श्री मोहनलालजी महाराज

शुभाशंसा

मुनिवर कमल, कमल हैं अद्भुत,
म्लानि-ग्लानि से मुक्त सुविकसित ।
जिसके चिंतन का यह सौरभ;
कर देगा जन-जन को सुरभित ॥

—उपाध्याय अमर मुनि



पूर्व--पीठिका

धर्मयुग साप्ताहिक के यशस्वी सम्पादक श्री धर्मवीर भारती ने एक बार अपने वार्तालाप – प्रसग मे कहा—मुनिवर, हमारी सस्कृति मे पूजा सन्त की है, पण्डित की नही। आप वन्दनीय इसलिए नही कि आप विद्वान है। विद्वान एक से एक बढ़कर जगत मे मिल जाएँगे। आप एक सन्त है, हमारे लिए वन्दनीय केवल इसलिए है।

मुझे लगा, बात ही बात मे श्री भारती जी ने भारतीय संस्कृति का एक महान सत्य उजागर कर दिया है। सचमुच ही हमारी सस्कृति मे सन्त की पूजा है, पण्डित की नही! दुनियावी दृष्टि से सन्त चाहे अनपढ हो, निरक्षर हो, विद्वान नही भी हो, फिर भी वह पूज्य है, वन्दनीय है। पण्डित चाहे साक्षर हो, अनेक उपाधियाँ लिए हो, अनेक भाषाओ और विषयो मे निष्णात हो, वह आदरणीय अवश्य है, पर वन्दनीय नही! क्योकि हमारे यहाँ वन्दनीय साधुता है, पाडित्य नही! एक कबीर अनपढ भी साधुता के कारण वन्दनीय है। एक कालिदास विद्वत्ता के कारण पठनीय हो सकता है, वन्दनीय नही!

संत अक्षर का द्रष्टा—

सत अक्षर का पाठी नही, अक्षर का अनुसन्धाता होता है, अक्षर का द्रष्टा होता है। उसका ज्ञान शास्त्रीय नही, आत्म-साक्षात्कार से उद्‌भावित होता है। पुस्तको से उधार लिया हुआ नही, स्वय अनुभव मे लिया होता है। सत कबीर ने जब राम की महिमा गाना शुरू किया, पण्डित लोग उससे बडे नाराज हुए। एक जुलाहा और राम का नाम! शूद्र को राम की महिमा गाने का अधिकार ही कहाँ है? वे कबीर का डटकर विरोध करने लगे।

कबीर सन्त थे। सन्त भी फक्कड स्वभाव के। उन्होने पण्डितो को ललकारते हुए कहा—

तू कहता कागज की लेखी,
मै कहता आँखन की देखी।

राम नाम के अधिकारी पण्डितो, सुनो! तुम जो राम की महिमा गाते हो, वह जो कुछ तुमने ग्रन्थो मे पढा है, जो कुछ तुमने औरो से सुना है, जैसा तुम्हे बताया गया है, रटाया गया है, उस पर आधारित है। किन्तु मेरा राम पढ़ा-पढाया, सुना-सुनाया, रटा-रटाया नही, साक्षात अनुभव किया हुआ है। मैंने राम को शास्त्रो से नही, अपनी आँखो से देखा है। तुम हो केवल कागज पर

लिखा हुआ पढने वाले। मैं हूँ राम को अनुभव से देखने वाला। तुम्हारा राम केवल तोता रटन्त है, मेरा राम साक्षात है, जीवन्त है।

ऋषि द्रष्टा हैं—ऋषे दर्शनात्। ऋषि का ज्ञान मौलिक है, अन्त स्फूर्त, भीतर से लिया हुआ। इसलिए वह नित-नवीन है। सदा तरो-ताजा है। कभी वासी नही। बाहर से लिया हुआ नही, उधार नही। हम उसे कभी पढे, कितनी ही वार पढे, वही ताजगी मिलेगी, वही सजीदगी मिलेगी। भीतर तक झकझोर देने वाली, वही मर्मस्पर्शी अन्त प्रेरणा उसमे हम पाएगे। कुए के जल-सी होती है सन्त की प्रज्ञा। जैसे कुआ अन्त स्रावी झरनो से सदा भरा रहता है, हम उसमे से कितना ही जल निकाल ले, वह फिर उतना ही भर जाता है। न उसके जल मे कमी आती है और जल खत्म होने का तो सवाल ही नही है। हम उसमे से जव भी जल निकालेंगे हमे ताजा जल ही मिलेगा। यही स्थिति होती है सन्त वाणी की। इसलिए हजारो-हजारो वर्षों के वाद भी सन्त वाणी में वही मर्म-स्पर्शिता होती है। उपनिषद्, महावीर वाणी, सन्त वाणी हजारो वर्षों के वाद आज भी वही जीवन्त प्रेरणा लिये हुए है। जैसे किसी ने दुखती रग पर हाथ धर दिया हो, रिसते घाव पर किसी ने मलहम लगा दिया हो।

पण्डित होता है शास्त्रों का पाठी—

पण्डित शास्त्रो का पाठी होता है। उस ज्ञान मे उसका अपना कुछ भी नही होता। जैसा लिखा है शास्त्रो मे, उसे वह मात्र पढने वाला होता है। उसमें उसकी वुद्धि की पकड भर होती है। पर अपना मौलिक कुछ भी नही होता। कुन्ड के जल की तरह ऊपर से लिया होता है। पण्डित का ज्ञान! जहाँ कुओ का जल खारा होता है, लोग वर्षा का पानी छोटी-छोटी जल-कुण्डो (Water-Tanks) मे इकट्ठा कर लेते है। वही जल-कुण्डो का पानी पूरे वर्ष भर प्यास वुझाने के काम आता है। किन्तु कुण्ड का पानी भीतर वहने वाले झरनो से जुडा हुआ नही होता, इसलिए वह सदा वासी होता है। वह मौलिक नही होता उधार का होता है। अत उसकी सीमाएँ है। हम उसमे से जितना जल निकालेंगे, वह उतना ही कम हो जायेगा। वर्षा का जल नया नही भरेंगे तो वह कुण्ड विल्कुल सूख भी जायेगा। वह जल तो केवल ऊपर से इकट्ठा किया हुआ होता है। उसमे कुन्ड का अपना कुछ भी कहाँ होता है ?

यही स्थिति है पण्डित के ज्ञान की। पण्डित का अपना उसमे क्या होता है ? होती है शास्त्र वाणी या फिर अपनी वुद्धि की पकड। वुद्धि ने उस ग्रन्थ मे से जितना ले लिया इकट्ठा कर लिया पण्डित उसे दुहरा देता है। वह दुहराना भर है। इसलिए उसमे वह ताजगी नही होती। उसमे शव्दो का पाँडित्य हो सकता है, पद-लालित्य हो सकता है, वुद्धि-चमत्कार हो सकता है, पर अनुभव की वेधकता

नही होती, हृदयस्पर्शिता नही होती। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विद्वान की उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रचना हम पढ ले। वह रचना एक बार हमारे दिमाग को अवश्य झनझनाएगी, किन्तु वही रचना दूसरी बार सामने आने पर बासी लगने लगेगी। उसकी प्रेरणा, उसकी मार्मिकता जैसे विलुप्त हो जाती है।

दिल की भाषा शाश्वत होती है—

सत अनुभविता है। अनुभव का सम्बन्ध मस्तिष्क से नही, हृदय से होता है। सारी संवेदनाएँ-भावनाएँ हृदय से जुडी होती है। इसलिए स्वभावतया ही हृयद से निकली वाणी हृदय को छूती है। फिर हृदय की भाषा भावना-प्रधान होती है इसलिए उसमे शब्द स्वय ही गौण होते है। भावनाये ही प्रमुख होती है। उन भावनाओ के उभार मे शब्द ठहर जाते है, वाणी मौन हो जाती है। यही कारण है कि प्रेम की कोई भाषा नही होती। मुस्कान या आसू के लिए किसी भाषा की जरूरत नही। ऐसा नही कि एक भारतीय हिन्दी मे हँसेगा या रोयेगा। और एक अंग्रेज अंग्रेजी मे हँसेगा या रोएगा। ऐसा नही कि एक हिन्दुस्तानी हिन्दी मे प्रेम करेगा और एक फ्रासीसी फ्रेन्च मे प्रेम करेगा। प्रेम एक अनुभव है। उसके लिए न हिन्दी की जरूरत है और न अंग्रेजी या फ्रेन्च की। मुस्कान एक अनुभव है। आँसू एक अनुभव है। इस अनुभव को लिया जा सकता है, जिया जा सकता है-किन्तु भाषा के द्वारा दूसरे को दिया नही जा सकता। केवल इसके होने का अहसास किया जा सकता है। यही कारण है कि दिल की भाषा शाश्वत होती है, अनुभव की भाषा देश और काल की सीमा से अतीत होती है। वह तेरे और मेरे के भेद से मुक्त होती है इसलिए वह सबके लिए गम्य होती है। जैनागमो का मानना है कि तीर्थंकर की वाणी देव-मनुष्य, पशु-पक्षी सब अपनी भाषा मे उसे समझ लेते है। अगर वह वाणी शब्दात्मक और बौद्धिक भूमिका पर हो तो सबके लिए समान रूप से समझ आने का कोई सवाल ही पैदा नही होता।

सन्त की आवाज आत्मा की आवाज होती है। सन्त की वाणी अनुभव की वाणी होती है। इसलिए वह हम सबकी आवाज होती है। हम सबकी वाणी होती है। ऐसी ही अनुभव-पूत वाणी का विशिष्ट सकलन है—"एकै साधे सब सधे"। चिन्तक, लेखक है मेरे आत्मीय मित्र, विद्वान मनीषी श्री महेन्द्र मुनि "कमल"। श्री महेन्द्र मुनि जी की निश्छल मिलनसारिता, सहज आत्मीयता, वैचारिक उदात्तता तथा असाम्प्रदायिक विचारशीलता मे मै अभिभूत हूं। इस सकलन मे उनके विनम्र व्यक्तित्व तथा प्रभावी वक्तृत्व की एक झलक पाठकों को सहज ही मिलेगी। समय-समय पर दिये गये ये प्रवचन आत्म-जिज्ञासु पथिकों के लिए दीप-स्तम्भ का काम करेंगे, ऐसी शुभाशसा है।

नारानगर
१-१०-८६

—सन्त प्रवर मुनि रूपचन्द्र

ले ख की य

जीवन का उद्बोधन है यह संकलन

☐ हमारी विचार परम्परा कई वार हमे आकाशी ऊंचाइयो से भी ऊँचा उठा देती है । उस स्थिति मे हम जीवन प्रणाली का नजारा करते है तो कई पहलू एक साथ उजागर हो जाते है । जव हम उस आलोक को लेखो मे डाल देते है तो अनायास ही वे विचार दिव्य-विम्वो के माध्यम से अनुकरणीय हो जाते है । ऐसी ही अनुभूतियो से सम्प्रक्त होकर जव-तव कुछ लेख मैने कलमवद्ध किये और वह जहाँ-तहाँ प्रकाशित हुए है । आज उन्ही का एक ग्रन्थ रूप प्रस्तुत करते हुए एक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है । "एकै साधै सव सधै" निश्चय ही मेरे इस कथन की पुष्टि करेगा ।

विचार तभी सार्थक है जव वे प्रेरणा दें । इस लेख सग्रह की सार्थकता तभी है जव आप इससे प्रेरणा ले । इस प्रकार मेरे कथन व आपके ग्रहण की सार्थकता के वीच स्थित है ये लेख । आप इन्हे पढे, गुने व जीवन मे इनके उद्वोध को स्थान दें यही मेरी चाह है ।

उद्देश्य यह नही है कि लेखो के माध्यम से मै अपनी कोई विद्वत्ता या अपना कोई पाडित्य प्रकट करू । साधना के विचुम्व मे जो रहस्य मैं पाता हूँ, वे मुझ तक ही सीमित न रहे यही मेरी भावना रहती है । इसी भावना के वल पर आपके हृदय की तहो को उघाड़ने के उपक्रम है "एकै साधे सव सधै" के ये लेख ।

ढेरो-ढेर शव्द खदवदाते पानी की तरह क्रियाशील है। आपको केवल उनका नजारा नही देखना है, उससे कुछ पाना है । यह यदि हो सका तो मैं मानूंगा कि यह लेखन, यह सकलन अपना योग्य आयाम पा गया है ।

और अधिक कुछ कहना नही चाहता। परम श्रद्धेय मेवाडकेसरी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री मोहनलाल जी म०का शुभ आशीर्वाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ का आधार है। राष्ट्र सन्त उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि जी म० ने आशीर्वादात्मक दो शब्द लिखने का अनुग्रह किया, यह उनकी असीम कृपा है। क्रान्तदृष्टा स्नेही मित्रवर मुनि श्री रूपचन्द जी (नव तेरापथ) ने पूर्व पीठिका लिखकर जो स्नेह प्रकट किया अविस्मरणीय रहेगा।

धर्मनिष्ठ सुश्रावक श्री दीपचन्दजी वैद महता कलकत्ता ने अपने अर्थ का उदार रूप से उपयोग श्रुत सेवा मे किया यह महत्वपूर्ण है। धर्मप्रिय साहित्यकार श्री राजेन्द्र नगावत का सम्पादकीय सहयोग एव स्नेहमूर्ति विद्वदरत्न श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' ने ग्रन्थ को जिस प्रकार से सर्वागीण नयनाभिराम स्वरूप प्रदान किया—अनुपम है। अपने आप मे यह एक उपलब्धि है कि मैं यह सब, सहयोग जुटा पाया।

—मुनि महेन्द्र कुमार "कमल"



उदार अर्थ सौजन्य

सीकर निवासी उदार हृदय धर्मनिष्ठ विनम्रता सौजन्यता की मूर्ति श्रीमान् दीपचन्द जी बैद मेहता ने अपने पूज्यनीय धर्मप्रेमी पिता श्री भँवर लालजी एव धर्मप्राण माताश्री की पवित्र धर्म भावना के अनुरूप उनके शुभ धर्म सस्कारों को सदा पल्लवित करते हुए प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन में उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान किया है। धन्यवाद।



धर्मप्रेमी सुश्रावक
पूज्य पिता श्री भंवरलालजी
बैद मेहता





धर्मशीला सुश्राविका
पूज्यमाताश्री
सोहनदेवी मेहता

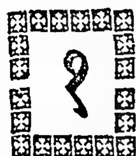


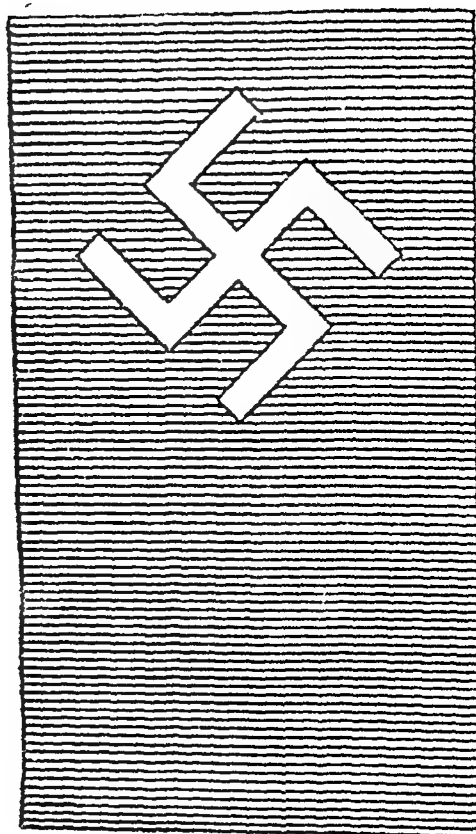
अनुक्रमण

१ : दर्शन एवं अध्यात्म के अंचल मे

२ : समाज एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे

३ : प्रेरणा की प्रकाश किरणे





दर्शन एवं अध्यात्म के अंचल में



भगवान महावीर ने कहा—'एगे आया'

तो हमने इसे आत्मा के सन्दर्भ मे ग्रहण कर यह मान लिया कि प्रत्येक आत्मा स्वरूप दृष्टि से एक समान है; किन्तु उक्त कथन तो इससे भी विराट, व्यापक सन्दर्भ मे लिया जा सकता है। 'एगे आया'—कहकर आत्मा को ही एकमेव केन्द्र बताना अभीष्ट है। 'एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का सकेत ही इस आत्मवाद मे ध्वनित है। इसीलिए तो निश्चयपरक भाषा मे 'अप्पाणमेव' को सदर्भित किया गया है। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः—मे इसी की अनुगूंज सुनाई देती हैं।

आत्मा ही एकमेव साध्य है, शोध्य है, बोध्य है। आत्मा की पहचान न सिर्फ आत्मा की पहचान है, किन्तु आत्मेतर की भी पहचान है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म सब इसी उत्स से प्रवाहित हुआ है। ममत्व, सयम, आसक्ति, भक्ति, व्रत, नियम सभी आत्मा की धुरी पर ही गतिशील है। अतः हम यह मानकर चलें—'एगे आया'—का मतलब है—'एक साधे सब सधे' एक आत्मा को साध लेने पर, आत्मा को पहचान लेने पर सब कुछ ज्ञात/सिद्ध हो सकता है।



१

एके साधे, सब सधें

बहुत कुछ होता है इस जग मे। हमे भी कुछ करना चाहिए, यह एक अवधारणा है सामान्य मनुष्य की। इस धारणा के बल पर मनुष्य कुछ भी कैसे भी कर बैठता है। न उसके परिणाम पर उसकी नजर होती है, न उसके प्रभाव पर।

प्रत्येक की अपनी-अपनी साधना होती है, अपने तरीके होते है और उस साधना से वह कहाँ पहुँचता है, क्या पाता है और प्राप्य का कैसे व कहाँ उपयोग करता है इस तथ्य से वह स्वय भी कभी-कभी परिचित नही होता। या उसे गलत तरीके से इस्तेमाल करता है।

साधना के स्वरूपो में एक दरार पड चुकी है। आपस मे तालमेल नही है। परिणामस्वरूप अलग-अलग प्रकार के साधको मे परस्पर सघर्ष हो जाता है। अपने को ही श्रेष्ठ व सही मानने के विभ्रम को वे पालने लगते है।

सबसे श्रेष्ठ साधना है, अपनी आत्मा की साधना। आत्म-यात्रा मे विभेदों को अवसर नही मिलता। आत्म-तत्व मे कही कोई विभेद किसी भी अवधारणा या दर्शन मे नही है। आत्म-तत्व की चरमीति मे सारा द्वैत खत्म हो जाता है। जैन दर्शन भी एक आत्मवादी दर्शन है।

आत्मा से परे जो चिन्तन है उसके लिए जिम्मेदार कौन है ? मनुष्य आत्मा से परे शरीर और शरीर से भी परे अन्य उपादानो के विमोह मे क्यो रमने लगता है ? यह एक विचारणीय विषय है।

इसका सबसे बडा कारण तो यही है उसमे आत्म-बल की कमी आ गई है। आत्म-विश्वास क्षीण हुआ है। वह तत्काल परिणाम चाहने लगा है। साधना की क्लिष्टता उसे उबाने लगी है, धैर्य मे कमी आई है।

ऐसा होना चाहिए कि मनुष्य आत्म-यात्रा पर निकले तो उसे रास्ते की दुरूहता का पहले ही बोध हो, वह उसके लिए स्वय को तैयार रखे। वह दृढता रखते हुए कदम बढाता जाये, रुकने या लौट पड़ने के लिए जरा भी तत्परता प्रकट न करे।

आत्मा को साधने के प्रयत्न से अनायास ही बहुत कुछ सध जाता है। इससे एकाग्रता सधती है, लक्ष्य-पथ समुपस्थित हो जाता है। शरीर का विमोह शेष नही रहता। सारे विकारो का निरसन हो जाता है। दृष्टि मे उदारता का समावेश होता है। मैत्री भाव का उदय हो जाता है। वाणी मे ओजस्व का प्रवेश हो जाता है। आत्म-बल तेज हो जाता है। करुणा का भाव प्रबल हो उठता है। सर्वत्र समभाव उत्पन्न हो जाता है।

आत्मा की यह यात्रा सुखद यात्रा होती है। इस यात्रा मे पडाव कई आते है पर हर पडाव पर एक नया बल, एक नयी चेतना उदित होती है। यही बल मनुष्य मे दृढता और अन्तत स्थिरता भी लाता है।

मन का वातायन खुला रहे, बाहर से प्रेरणा ग्रहण करे पर जो निष्कर्ष उसे लेने हैं वह उसके स्वय के ही हो, यह आवश्यक है। मन से बडा चिन्तक कोई नही है।

मन की यात्रा मे अभय का वरदान मिलता है। स्वत ही जैसे उच्चतम सुरक्षा प्रबन्ध व्यवस्थित रूप से प्रकट होने लगता है। बाहरी सभी स्थितियो मे भयग्रस्तता का एक आलम सदा बना ही रहता है। जिस यात्रा मे अभय हो, भला उससे बड़ी सुखद यात्रा और क्या हो सकती है ?

अब आइये चर्चा करे—क्रमश मन को कैसे साधा जा सकता है। मन को साधने के लिए सर्वप्रथम देह का शिथिलीकरण आवश्यक होता है। ध्यानमग्न होकर एडी से चोटी तक क्रमशः देह को शिथिल करते जाना होता है। मस्तिष्क से भी विचारो का आलोडन-विलोडन स्थगित किया जाता है। केवल सांस की जो अन्तर्यात्रा है उस पर नजर टिकाये रखना आवश्यक है। होते-होते ध्यान सधने लगता हैं। शरीर के मोह से निवृत्ति मिल जाती है।

एक दिशा के मिल जाने से यात्रा सहज हो जाती है। सम्मुख होता है सोपान। क्रमश गुणस्थानो के सोपान चढने प्रारम्भ होते हैं। उत्कर्ष के दौरान कैवल्य प्राप्त होता है और अतत. मोक्ष उपलब्ध होता है। यही तो है मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य।

साधक दृढ हो. साध्य उच्चतम हो, साधन की भी श्रेष्ठता जरूरी है। साधक ज्ञानवान हो। उसकी क्रियाओ मे विशुद्धता हो तभी श्रेष्ठ लक्ष्य पाने की स्थिति आ पाती है।

सच्ची साधना वही है जिसमे सिद्धि की भी भावना या धारणा नही रह जाती। जहां हर कांक्षा, कामना और लब्धि से मुक्त हुआ जाता है। साधना को सिद्धि का रूप तभी प्राप्त होता है जब वह साधना सहज हो जाती है।

साधना से दृष्टि का विकास होता है। दृष्टि का सकुचन टूटता है। सहज ही एक उदारता प्रसार पाने लगती है। यह सम्भव है मन की साधना से। मन ही तो हमे अतर्दृष्टि से युक्त करता है।

शरीर की शक्ति सीमित होती है। मन की शक्ति असीम है। मन का शक्ति-स्रोत आत्मा है। मन जागृति जरूरी है। इसके लिए मन को बाह्य विचारो से शून्य कर देना चाहिए। उस शून्य को चैतन्य की अनुभूति स्वतः ही भर देती है। मस्तिष्क, नाडी सस्थान और मेरुदण्ड को प्रभावित कर हम एकाग्र हो सकते हैं, विचारशून्य हो सकते है। इसमे कुम्भक का सहारा भी लिया जा सकता है।

मन को साध लेने के पश्चात कुछ भी साधने को शेष नही रहता। उस स्थिति मे ही मनुष्य चैन से जी सकता है। मन का चाचल्य ही हमे भरमाता है। वही हमे अनेक विभ्रमो से ग्रस्त करता है। मन पर विराम लग जायगा तो चाह पर भी विराम लग जायगा, अपेक्षाओ की समाप्ति हो जायगी। अत मन की साधना अति दिव्य है।

ध्यान साधना से मनुष्य अपने मन की गहराई मे पहुंचता है। वहाँ उसे अशाति की जड मिल जाती है। जड को उखाड फैकने के वाद अशान्ति रह नही पाती। ध्यान का तात्पर्य मन को अनेक से एक मे और एक से शून्य मे लीन कर देना है।

मन की यह साधना व्यक्ति की अन्यतम सूझ है। मन को साधने पर सब कुछ सध जाता है। मन की दिव्यता प्रकट होती है। मन को अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। अत एक मन को साध लेना ही यदि उद्देश्य हो तो फिर किसी और तौर-तरीके की आवश्यकता ही क्या है?



२

समत्व की साधना : सम्प्रदाय का चरम

दर्पण के जितने टुकडे हो जायँ वह उतने ही चेहरे प्रतिबिम्बित करने लगता है किन्तु उसमे समग्रता नही होती। पूर्णता के अभाव मे प्रतिबिम्ब सही और स्पष्ट नही होता। हर टुकडे के बीच दरार होती है जो जुडन को नकारती है। मात्र एक दरार दर्पण के कोण को बदल देती है, दृष्टि बदल जाती है, दृष्टिकोण मे परिवर्तन आ जाता है।

नयी-नयी गुरु परम्परा को अपनाकर किसी एक धर्म के कई उप-संगठन स्थापित हो जाने से उस धर्म की समग्रता को आघात पहुचता है। यह घटना दर्पण के टूटने के समान ही है।

सप्रदायो की स्थापना के पीछे कई कारण होते है। कभी होती है वैचारिक क्राति, कभी होती है महत्वाकाक्षा तो कभी किसी शिथिलता के प्रति उपजा विरोध। कभी-कभी सप्रदाय एक रूढ परम्परा मे क्राति भी ला देता है और अनुपम विकास घटित कर देता है।

सम्प्रदाय की स्थापना को नकारा नही जा सकता परन्तु उसे उस फूल के समान होना चाहिए जो विशाल बगिया का ही एक अग है। इक्का-दुक्का फूल क्षण भर के लिए हर किसी को जरूर आकर्षित कर सकता है परन्तु विश्राम और सुरभि का साम्राज्य लिए फूल से भरी-पूरी बगिया का विचरण उससे कहाँ सम्भव है।

आप चाहे किसी एक के प्रति एकनिष्ठ रहे, परन्तु ममत्व के दायरे मे सभी को समाहित करे। किसी भी समस्या के लिए एक-तान होकर चिन्तन करे एव समाधान खोजे।

सम्प्रदायो मे बटने के अभिशाप से यह दुर्भाग्य ही है कि जैन धर्म भी नही बचा है और हम देखते हैं कि इसी कारण समृद्धि के अनेक सोपान चढकर भी जैन-धर्म इच्छित प्रभाव नही डाल पा रहा है। वैपरीत्य, वैषम्य, आरोप-प्रत्यारोप,

परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के भी भाव उपजे है जो इस गौरवमय-धर्म पर कुठाराघात करते है।

वस्तुत जैनधर्म अनिन्दक धर्म है, राग-द्वेप को विसारने वाला धर्म है। इसके अन्तर्गत घृणा और द्वेप भावहिंसा है। इन भाव-हिंसा के बचने के लिए जैन धर्म का अपूर्व चितन अनेकात के रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। अनेकात जिसे स्याद्‌वाद भी कहा जाता है। एक अपूर्व नियोजन है इसमे। विरोध के भीतर भी अनुकूलता की खोज तथा वैरी के प्रति भी वैर-त्याग की भावना।

समाज व्यक्तियो की भीड है। व्यक्तित्व पानी मे तिरते उन तैराको के समान होते है जो आगे-आगे निकलने को आतुर होते है। इस आतुरता मे कभी-कभी औरो के प्रति हेय भाव भी जाग जाता है, परन्तु एक चिन्तनशील व्यक्तित्व हमेशा अपने प्रयास को जीवन्त रखता है, वह अन्य के प्रति किसी भी प्रकार के क्रूर-भाव एव वैमनस्य को स्थान नही देता। सम्प्रदायो के अन्तर्गत अपनी सीमा मे मर्यादानुरूप प्रतिपादन एव आत्म-विकास की पूरी छूट है पर सीमोल्लघन कर दूसरे के प्रति कुचेष्टा स्वीकार नही की जा सकती।

परम वैज्ञानिक विचार क्राति के प्रथम सूत्रधार भगवान महावीर के रूप मे हमे एक ऐसी महान् विभूति प्राप्त हुई है जिनका चिन्तन अत्यन्त ही विशाल मनोभूमि पर स्थित है। उनका यह कथन दृष्टव्य है—

"सभी प्राणी एक समान हैं, विशालकाय हाथी से लेकर क्षुद्र चीटी तक मे जीवन की समान आकाक्षा है।"

जब सभी की आकाक्षा समान है, सभी का लक्ष्य एक है तो फिर कदमो मे बहक कैसी? विचारो मे विभेद कैसा? पारस्परिक टकराव एव बिखराव कैसा? व्यक्तिगत स्वार्थ के बगैर इस भाव का उदय सम्भव नही है। भगवान महावीर समत्व के प्रहरी थे। समता के उद्‌घोषक थे। परस्पर एक-दूसरे के प्रति समत्व की इस साधना मे वे अपने मन के निर्माल्य को महत्व देते थे। किसी के प्रति उपजे दुर्भाव को वे क्षमा के द्वारा खत्म करने के पक्षधर थे। वे प्रत्येक साधक के लिए प्रतिदिन दैवसिक व रात्रिक प्रतिक्रमण करने के समय क्षमायाचना करने एव क्षमा देने एव क्षमा लेने की समझ देते हैं।

वे इस निर्माल्य के घटन के लिए बहुत गहराई तक जाने का आदेश देते है। वे कहते है—"क्षमा साधक-जीवन का अभिन्न अग है। जिसके साथ तुम्हारा वैर-विरोध-कलह हो जाता है, वह व्यक्ति तुम्हें आदर दे या न दे, तुम्हे क्षमा करे या न करे परन्तु तुम्हे क्षमा कर देना चाहिये।" और भी गहरे जाकर वे कहते हैं—

"क्षमा से जीव को आह्लाद भाव, आनन्द एवं प्रसन्नता की अनुभूति होती है। उससे व्यक्त ही नही अव्यक्त चेतना मे भी शाति, शीतलता एव कृतकृत्यता की अनुभूति होती है। क्षमा से सहिष्णुता, तितिक्षा एव धीरता का गुण प्रकट होता है।"

भगवान महावीर के इस अपूर्व दर्शन की तह मे यदि हम गये होते तो ये वैमनस्य, ये साम्प्रदायिक कठोरता, कटुता आदि हमारे जीवन मे आती ही क्यो कर ? इसका प्रमुख कारण है भगवान महावीर से हमारी विमुखता। चिन्तन मे हम इसी मे निमग्न हो गये, अपने आगे हमे कुछ सूझता ही नही। अपने-अपने व्यक्ति, अपने-अपने गुरु तथा अपने-अपने सम्प्रदाय मे ही हम चक्करघन्नी खाते रहे। औरो के प्रति इसमे हेय-भाव रहता है। इस प्रकार भावहिंसा, असहिष्णुता अपनाने मे हमे थोड़ी सी भी झिझक नही होती।

जरूरत इस बात की है कि हम अपने से कही बहुत अधिक दिव्य भगवान महावीर को महत्व दे, उनके चिन्तन से एकाकार हो जाये तथा उनके कथनो को अपने जीवन-व्यवहारो मे प्रयुक्त कर अपने को गरिमा प्रदान करे।

मै यह नही कहता कि सम्प्रदायो की उपलब्धियो पर स्याही पोत दो, उन्हे मिटा दो। मेरा कहना केवल यह है कि एक विशाल दायरे मे दमकते इन बिन्दुओ को परिधि की ओर उन्मुख किये जाये। अपने मे लुप्त होने से बचाया जाये। जैन दर्शन के हार्द को समझा जाय तथा उसे अधिकाधिक सार्थकता से समृद्ध बनाया जाये।



३

धर्म की मूल आत्मा

धर्म मूलत समन्वय का सन्देश देता है। धर्म ने न कभी लडने की प्रेरणा दी, न लडाई के शोले उगले। यद्यपि धर्म को कुछ लोगो ने 'अफीम' कहा है। किन्तु सच यह है कि धर्म अपने आदर्शों पर प्राणाहुति की तो प्रेरणा देता है पर वह अपने विचारो को सर्वोपरि मानकर दूसरे को गिराने या मिटाने मे कभी विश्वास नही करता।

धर्म को अफीम की सज्ञा देने वालो ने वास्तव मे अधार्मिक लोगो की मूढताओ को देखकर ही धर्म को अफीम कहने की भूल की है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है—अविवेकी लोगो के अज्ञानमूलक आचरण ने ही धर्म को अफीम कहने पर कुछ विचारको को मजबूर कर दिया है।

भारत के 'विजयदशमी' पर्व और ईसाइयो के 'गुड फ्राइ डे' पर्व मे देखिए कितनी समानता है।

यूरोप मे ईसाइयो का एक देश है। यहाँ का प्रत्येक ईसाई धर्म से जुडा हुआ है। ये चालीस दिनो की लम्बी अवधि का एक पर्व मानते है। इस उपासनाकाल मे ग्रीक परिवार मे पूर्णत निरामिष भोजन किया जाता है। इन दिनो मे मास, मछली यहाँ तक कि अण्डो का भी सेवन ये लोग नही करते। कतिपय दृढप्रतिज्ञ लोग तो दूध और दूध से बनी अन्य वस्तुओ का भी चालीस दिनो तक बहिष्कार कर देते हैं। प्रत्येक शुक्रवार को जैनियो के अष्टमी चतुर्दशी की तरह ये धर्माराधन विशिष्ट दिन मानते है। इस प्रकार चालीस दिनो के पूरे होने पर अन्तिम शुक्रवार को पूर्णाहुति का उत्साहपूर्वक समापन समारोह मानते हैं। इस दिन वे पूरे दिन ही अपने दोषो की प्रभु से क्षमा याचना करते रहते हैं जैसे जैन लोग पर्युषण पर्व की पूर्णाहुति सवत्सरी महापर्व को मानकर करते है।

रात के ठीक बारह बजे ईसा-मसीह का जन्म दिन मानते हैं जैसे भारत मे कृष्णाष्टमी की पूरे दिन तैयारी की जाती है। पूरे दिन उपवास-व्रत व विभिन्न

प्रकार के अनुष्ठान किये जाते है। रात बारह बजे मन्दिरो मे घटार्णव, शख ध्वनि व जय-जयकार के बीच श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जाता है।

अभी-अभी कुछ समय पूर्व आप लोगो ने १० दिन तक रामलीला देखी/सुनी है। दसवे दिन अन्याय के प्रतीक रावण का पुतला जलाकर विजय पर्व मनाया। ग्रीस के कुछ गाँवो मे भी रोमन के जल्लाद राजा ने ईसा को क्रास पर लटकाया था। उसी दिन से आज तक वे लोग रोमन राजा का पुतला बनाते है, उसे गाँव, गली और नगर चौराहो पर घुमाते है, गाली देते है और अन्त मे आग लगाकर उसे फूँक देते है।

ईसाई धर्म के इन अनुयायियो के इस त्यौहार और समानान्तर दूसरे त्यौहारो की परम्पराओ को देखने पर ऐसा लगता है कि सभी धर्म के लोग एक ही भावना से उत्प्रेरित है—वे मानवता की पूजा करना चाहते है। अमानवता या अनैतिकता की होली जलाना चाहते है। मानवता की पूजा मे सभी धर्म एक-मत है। धर्म परम्पराओ का, देशकाल के अनुरूप परिवेश बदलता रहता है, पर धर्म की मूलात्मा तो मानवता की पूजा मे ही, अपना विश्वास अभिव्यक्त करती है।

रावण को भारतवासी क्यो धिक्कारते है इसीलिए कि उसने सीता हरण कर, हमारे धार्मिक सस्कार वाले मन को गहरी चोट पहुँचाई थी। ईसा को क्रास पर लटकाकर रोमन के जल्लाद राजा ने मानवता के इतिहास मे गहरी भूल की थी।

—तो आइये हम धर्म की मूल आत्मा को समझे और आज से प्रतिज्ञा करे कि दुनिया का कोई भी धर्म घृणा, वैर-विरोध या एक दूसरे को अपमानित की प्रेरणा नही देता बल्कि सभी धर्मो का आदर करने को कहता है। जब तक यह मूल धर्म हम लोगो की समझ मे नही आयगा तब तक हम किसी भी धर्म के अनुयायी या धार्मिक कहलाने के अधिकार से वचित ही रहेगे।



४

अनाग्रह : सर्व धर्म सद्भाव की पहली शर्त

'धम्मो मंगलमुविकट्ठं'
—धर्म उत्कृष्ट मगल है।

धर्म मानव जीवन को तेजस्वी बनाता है।

धर्म एक अत्यन्त ही व्यापक विधान है।

धर्म वस्तु या व्यक्ति मे सदा स्थिर रहने वाली वृत्ति है। इन अर्थो मे वह प्रकृति है, स्वभाव है। धर्म आज रूढ हो गया है। इस अर्थ मे कि वह आचार्य, ऋषि, देव या अरिहत द्वारा निर्दिष्ट कर्म है जिसके अन्तर्गत आत्म-मुक्ति या पारलौकिक सुख की उपलब्धि होती है। धर्म एक दायित्व है। जैसे ब्राह्मण-धर्म, गृहस्थ-धर्म, श्रमण-धर्म आदि। धर्म का उद्देश्य प्रवृत्ति का शोधन है। यह निवृत्ति की सीमा को विस्तारता चलता है। इन अर्थो मे धर्म सत्कर्म है, सदाचार है। उचित-अनुचित का परीक्षण करने वाली चित्त-वृत्ति धर्म है।

धर्म मे समय के साथ व्यापक रूढता आई है। इसके कई उप सगठन हुए, जो सम्प्रदाय कहलाए। यूँ कहूँ कि सकुचिता की गहरी पैठ हो चली है। चित्त की सकीर्णता से ही ये भेद उभरे। भेद से ही चुनौती, वैमनस्य और विकृतियाँ उभरी। तथाकथित धार्मिक अन्धक्रियाएँ या विवेकशून्य निष्ठाभाव मे वास्तविक धर्म की अर्हताएँ नही है। ये क्रियाएँ विद्वेष को उभारने लगी। फलस्वरूप मानव कई विडबनाओ से घिर गया। जीवन दूभर हो गया, धर्म के प्रति आस्थाएँ डिगने लगी। यही नही धर्म को अफीम तक कहा गया, उसे ढकोसला माना जाने लगा।

सर्व धर्म समन्वय की आवश्यकता महसूस होने पर धर्म के वास्तविक स्वरूप की ओर आकृष्ट होने का उपक्रम हुआ। धर्म के उद्देश्यो के प्रति रुझान होने लगी किन्तु अभी तक यह रुझान समर्पण की समृद्धता के दायरे नही छू पाई है। अभी भी उसमे तमाशबीन सा केवल जिज्ञासाभाव है। उसे अपनाने व अपने मे समाहित करने की भावना का उदय नही हुआ है।

प्रकार के अनुष्ठान किये जाते है। रात बारह बजे मन्दिरो मे घटार्णव, शख ध्वनि व जय-जयकार के बीच श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जाता है।

अभी-अभी कुछ समय पूर्व आप लोगो ने १० दिन तक रामलीला देखी/सुनी है। दसवे दिन अन्याय के प्रतीक रावण का पुतला जलाकर विजय पर्व मनाया। ग्रीस के कुछ गाँवो मे भी रोमन के जल्लाद राजा ने ईसा को क्रास पर लटकाया था। उसी दिन से आज तक वे लोग रोमन राजा का पुतला बनाते हैं, उसे गॉव, गली और नगर चौराहो पर घुमाते हैं, गाली देते है और अन्त मे आग लगाकर उसे फूँक देते है।

ईसाई धर्म के इन अनुयायियो के इस त्यौहार और समानान्तर दूसरे त्यौहारो की परम्पराओ को देखने पर ऐसा लगता है कि सभी धर्म के लोग एक ही भावना से उत्प्रेरित है—वे मानवता की पूजा करना चाहते है। अमानवता या अनैतिकता की होली जलाना चाहते है। मानवता की पूजा मे सभी धर्म एकमत है। धर्म परम्पराओ का, देशकाल के अनुरूप परिवेश बदलता रहता है, पर धर्म की मूलात्मा तो मानवता की पूजा मे ही, अपना विश्वास अभिव्यक्त करती है।

रावण को भारतवासी क्यो धिक्कारते है इसीलिए कि उसने सीता हरण कर, हमारे धार्मिक सस्कार वाले मन को गहरी चोट पहुँचाई थी। ईसा को क्रास पर लटकाकर रोमन के जल्लाद राजा ने मानवता के इतिहास मे गहरी भूल की थी।

—तो आइये हम धर्म की मूल आत्मा को समझे और आज से प्रतिज्ञा करे कि दुनिया का कोई भी धर्म घृणा, वैर-विरोध या एक दूसरे को अपमानित की प्रेरणा नही देता बल्कि सभी धर्मो का आदर करने को कहता है। जब तक यह मूल धर्म हम लोगो की समझ मे नही आयगा तब तक हम किसी भी धर्म के अनुयायी या धार्मिक कहलाने के अधिकार से वचित ही रहेगे।



४

अनाग्रह : सर्व धर्म सद्भाव की पहली शर्त

'धम्मो मंगलमुक्किट्ठ'

—धर्म उत्कृष्ट मगल है।

धर्म मानव जीवन को तेजस्वी वनाता है।

धर्म एक अत्यन्त ही व्यापक विधान है।

धर्म वस्तु या व्यक्ति मे सदा स्थिर रहने वाली वृत्ति है। इन अर्थो मे वह प्रकृति है, स्वभाव है। धर्म आज रूढ हो गया है। इस अर्थ मे कि वह आचार्य, ऋषि, देव या अरिहत द्वारा निर्दिष्ट कर्म है जिसके अन्तर्गत आत्म-मुक्ति या पारलौकिक सुख की उपलब्धि होती है। धर्म एक दायित्व है। जैसे ब्राह्मण-धर्म, गृहस्थ-धर्म, श्रमण-धर्म आदि। धर्म का उद्देश्य प्रवृत्ति का शोधन है। यह निवृत्ति की सीमा को विस्तारता चलता है। इन अर्थो मे धर्म सत्कर्म है, सदाचार है। उचित-अनुचित का परीक्षण करने वाली चित्त-वृत्ति धर्म है।

धर्म मे समय के साथ व्यापक रूढता आई है। इसके कई उप सगठन हुए, जो सम्प्रदाय कहलाए। यूँ कहूँ कि सकुचिता की गहरी पैठ हो चली है। चित्त की सकीर्णता से ही ये भेद उभरे। भेद से ही चुनौती, वैमनस्य और विकृतियाँ उभरी। तथाकथित धार्मिक अन्धक्रियाएँ या विवेकशून्य निष्ठाभाव मे वास्तविक धर्म की अर्हताएँ नही है। ये क्रियाएँ विद्वेष को उभारने लगी। फलस्वरूप मानव कई विडवनाओ से घिर गया। जीवन दूभर हो गया, धर्म के प्रति आस्थाएँ डिगने लगी। यही नही धर्म को अफीम तक कहा गया, उसे ढकोसला माना जाने लगा।

सर्व धर्म समन्वय की आवश्यकता महसूस होने पर धर्म के वास्तविक स्वरूप की ओर आकृष्ट होने का उपक्रम हुआ। धर्म के उद्देश्यो के प्रति रुझान होने लगी किन्तु अभी तक यह रुझान समर्पण की समृद्धता के दायरे नही छू पाई है। अभी भी उसमे तमाशवीन सा केवल जिज्ञासाभाव है। उसे अपनाने व अपने मे समाहित करने की भावना का उदय नही हुआ है।

समन्वय मे धर्म, वर्ग, प्रान्त, भाषाओ आदि की समाप्ति नहीं है वरन् उनमे पारस्परिकता, परस्पर सम्वद्धता की अपेक्षा का समावेश है। समन्वय समत्व को उद्घाटित, सम्बोधित तथा उजागर करता चलता है। न कोई छोटा है न कोई बडा है, सभी मे समान भाव ही देखता है। इसमे किसी भी इकाई का लोप नही है, इसमे सव इकाइयो की जुडन है। अपनी-अपनी दिव्यताओ से सब यथावत् युक्त रहे परन्तु उन दिव्यताओ का एक समुच्चय निर्मित करे। लघु-दीप्तियाँ दीपक के समान है और उनका सग्रथन के सूरज समान है।

रूढता के कारण विभेद इतने पक्के हो गये है कि उनमे लोच का खोजना कठिन हो गया हैं। एक-दूसरे के आमने-सामने विभिन्न धर्मावलम्बी मोर्चा बनाकर खडे हो गये है। यही तक बस नही है, एक ही धर्म, मत या पंथ के लोग भी परस्पर इतने अधिक कटुता से भर गये है कि मेल-मिलाप, पारस्परिकता की बात अना-धिकार चेष्टा लगती है।

समन्वय के सूत्र जुडने के लिए उदारता की बडी जरूरत है। अन्ध-श्रद्धा की झोक मे अपने ही पैर पर कुल्हाडी मारने की वजाय श्रद्धा को अपार विस्तार देकर सर्व के प्रति कल्याण तथा भाईचारे की भावना को ग्रहण करना अत्यन्त ही आवश्यक है।

यदि हम विना किसी लाग-लपेट के, बिना किसी पूर्वाग्रह के देखे, परखे तो पायेगे कि मूल-रूप मे सव धर्मों की, उनके चिन्तको, आचार्यो, साधको की भावना मे एकरूपता हे। स्वार्थ के कारण परवर्तियो ने उनके अर्थों मे अनर्थ का समावेश कर विभेद को स्थापित कर दिया। इस वृत्ति को त्यागना होगा। नये सिरे से परिष्करण करना होगा और अपने-अपने छोर लेकर जुडने की वृत्ति को अपने जीवन मे प्राथमिकता देनी होगी।

सर्व-धर्म-समन्वय के घटित होने के लिए मानव-मात्र की सर्व यत्रणाओ पर एक मच पर आकर चिन्तन करना होगा। एक विषय पर, एक मच पर आकर विभिन्न धर्म, सत, विद्वान, चिन्तक अपनी-अपनी अर्जित निष्पत्तियो पर विचार-विमर्श करे, अवगति दें और उस समस्या से जूझने के लिए एक विन्दु पर पहुँचें। यद्यपि इस पर अमल हो रहा है पर इसमे और गति आवश्यक है।

इस पर यदि हम जैन-धर्म के सदर्भ विचार करें तो पाते है कि प्राणी मात्र पर भगवान महावीर ने व्यापक चिन्तन किया है। भगवान महावीर ने प्राणी मात्र को एक वतलाया है। उन्होने समत्व साधना को—समभाव को सर्वाधिक वल दिया है। न केवल मानव-मात्र बल्कि जड, चेतन सर्व उनकी चिन्तन परिधि मे आते हैं। जीव ही नही अजीव पर भी उन्होंने समत्व की भावना प्रतिरोपित की है।

अनेकान्तवाद एक दिशा है। जैन-दर्शन की यह अपूर्व देन है। यह विचारो से आग्रह को धकेल देता है। यह विचारो से अनाग्रह पर बल देता है। इसके अन्तर्गत परस्पर विरोधी धर्मो मे भी अपेक्षा भेद से अविरोध उपजा है। भगवान महावीर ने धर्म को कर्म से सलग्न कर एक नया आयाम दिया है। वे कहते हैं कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र है।

यह बात मैने जैन-धर्म के सदर्भ मे कही है पर ऐसी ही भावना या इससे मिलता-जुलता चिन्तन अन्य धर्मों मे भी है। चाहे उसका ज्ञान हमे न हो। भगवान महावीर ने इस भावना को वर्षो पूर्व उजागर कर चिन्तन के दायरे मे सौंप कर मानव मात्र के प्रति अपनी कल्याण भावना को स्थापित कर दिया है।

धर्म के प्रति अनास्था को विराम देने के लिए, धर्म के प्रति आस्था को उत्स देने के लिए यह बहुत जरूरी है कि व्यक्ति या वस्तु के मूल-स्वभाव को जान लें, अपना ले। कही न कही से इसकी शुरुआत अब अविलम्ब होनी ही चाहिए।



५

अध्यात्म ही आत्म-दर्शन का माध्यम है

अध्यात्म अर्थात् आत्मा का अध्ययन। आत्मा की पहचान अर्थात् अपने अस्तित्व की समझ। जो अपने को नही पहचानता जो अपने प्रति बेखबर है, जो अपने आप से अनजान है उससे किसी भी विवेक या बुद्धिमत्ता की अपेक्षा व्यर्थ है। जानना एक बात है, पहचानना दूसरी, पर समझकर आत्मसात करना गहराई लिए हुए है। जो आत्म तत्व से सर्वथा विलग, केवल देहगत या भौतिकता से सलग्न है, उसमे सतहीपन है। जो सतह पर तिरता रहता है वह भला मोती कहाँ से पाएगा ? उसकी प्रवृत्ति मे थोथापन है।

अध्यात्म क्या है ? अध्यात्म सही अर्थो मे अपने माध्यम से सब कुछ समझना है। जो व्यक्ति सर्वज्ञात होना चाहता है, उसकी यात्रा अपने ही माध्यम से सम्पन्न होना जरूरी है। जो आवश्यक है, जो अपेक्षित है, उस तक पहुँचने के लिए अपना ही आश्रय सर्वोपरि है।

अध्यात्म, अन्तर् मे उतरने का तहखाना है, शरीर एक आकार है, एक प्रकार है। उस आकार, उस प्रकार के भीतर एक तहखाना हे जो भीतर ही भीतर आत्मा के उज्ज्वल आलोक मे पहुँचा देता है। वहाँ पहुँचने का अर्थ है विभाव से परे हो जाना। वहाँ पहुँचने का अर्थ है स्थूल का परित्याग कर सूक्ष्म मे पहुंच जाना। वहाँ पहुंचने का अर्थ है, उन द्वारो को खोल देना जिनके खुलते ही अपार, अकूत, आत्म-धन उपलब्ध हो जाता है।

जैन दर्शन मे आत्मवाद—अध्यात्म का प्रमुख स्थान है। किसी भी प्रकार की जैन साधना का प्रमुख लक्ष्य आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है। आत्म-साधना मे शरीर एक साधन मात्र है। शरीर अनित्य, अशुद्ध होते हुए भी शक्ति का अनन्त स्रोत है। शरीर का सदुपयोग अध्यात्म के द्वारा ही सम्भव है।

वहिर्मुखता से हर वार आसक्ति तथा भोगो-उपभोगो के प्रति मूर्च्छना की उत्पत्ति होती रही है एव होती है। जबकि अन्तर्मुखता से सारा चिन्तन सामारिक पदार्थो पर नही वरन् आत्मपरक होता रहा, होता है एव होगा। अन्तर्मुखता से

ही विषय-भोग छूटते है। अन्तर्मुखता से ही उत्कर्ष सधता है, अन्तर्मुखता से ही कर्म जर्जरित होते हैं। सच तो यह है कि अन्तर्मुखता से ही अनासक्ति आती है।

अध्यात्म हमारी परम्परा मे आरम्भ से ही है। अब हम यदि इससे विमुख होते है तो यह हमारी मूर्खता है। कहा जायगा कि हम मूल से कट रहे है, उसी डाल को काट रहे है जिस पर हम बैठे हैं।

आज जो साम्प्रदायिकता यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है उसके मूल मे भौतिक व्यामोह ही है। इसे और सहजता से समझने के लिए यह सूत्र हम समझे - धर्म का शरीर सम्प्रदाय है और उसकी आत्मा अध्यात्म। ज्यो-ज्यो हम शरीर अथवा भौतिकी आग्रह अपनाते है हमारी साम्प्रदायिक भावना दृढ होती है। यदि हम आध्यात्मिकता की ओर बढेगे तो हमारे आग्रह शिथिल पडेगे। सम्प्रदाय भावना हमे व्यर्थ प्रतीत होगी।

सही अध्यात्म है—सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र।

मुझे यह कहने मे जरा भी संकोच नही होता है कि अध्यात्म ही मानव जीवन को अपेक्षित उत्स प्रदान कर सकता है। भौतिकता का आग्रह केवल क्षणिक लाभ अथवा सुख प्रदान कर सकता है। मै यहाँ पर भी कहना चाहूँगा कि अध्यात्म को प्रदर्शन के परिप्रेक्ष्य मे नही, उसे अपने वास्तविक परिप्रेक्ष्य ही मे निरखा, परखा व अपनाया जाना चाहिये। किसी भी व्यक्ति का आध्यात्मिक रुझान उसे अपने छिछले स्तरो से ऊँचा उठायेगा और कई प्रकार की बाधाये दुष्प्रवृत्तियाँ अपने आप ही इस प्रकार समाप्त हो जायेंगी। उन वृत्तियो का अन्त होने का मतलब—मानव जीवन की यन्त्रणाओ का अन्त हैं। यहाँ यह कहे कि आध्यात्मिक सस्थापना आज बेहद जरूरी ही नही अनिवार्य है तो कोई गलत बात नहीं होगी।

हमारे पास अध्यात्म की बहुत ही श्रेष्ठ परम्पराएँ हैं। व्यापक चिन्तन इसके एक-एक पहलू पर हुआ है। बडे-बडे प्रयोग हुए है, बड़े-बडे दृष्टान्त भी हमारे सामने हैं पर इस सब को भुलाकर ही हम कदम-कदम पर यन्त्रणाएँ भुगत रहे है पर मेरा अपना अटूट विश्वास है कि अध्यात्म को अपना कर हम पुन अपनी पहले सी उच्च स्थितियो मे आयेगे।

यह केवल आदर्श कथन मात्र न माना जाय। इसे एक दूर की बात कहकर टाला नही जाये। जीवन के सम्पूर्ण सुख एव आनन्द के लिए हमे इस आदर्श को पाना ही होगा। जितना अधिक हम इसे पाते जायेंगे उतना ही हम उभरते चले जायेगे। वक्त लग सकता है पर उभरने मे कोई बाधा है ऐसा नही कहा जा सकता। जरूरत है हमारे मन की तैयारी की। कई प्रकार के प्रलोभनो से आज मानव गुँथा हुआ है। पहले वह उन फन्दो से अपने आपको छुडाए और फिर सही मार्ग पर चल पडे।

५

अध्यात्म ही आत्म-दर्शन का माध्यम है

अध्यात्म अर्थात् आत्मा का अध्ययन। आत्मा की पहचान अर्थात् अपने अस्तित्व की समझ। जो अपने को नही पहचानता जो अपने प्रति वेखबर है, जो अपने आप से अनजान है उससे किसी भी विवेक या वुद्धिमत्ता की अपेक्षा व्यर्थ है। जानना एक बात है, पहचानना दूसरी, पर समझकर आत्मसात करना गहराई लिए हुए है। जो आत्म तत्व से सर्वथा विलग, केवल देहगत या भौतिकता से सलग्न है, उसमे सतहीपन है। जो सतह पर तिरता रहता है वह भला मोती कहाँ से पाएगा ? उसकी प्रवृत्ति मे थोथापन है।

अध्यात्म क्या है ? अध्यात्म सही अर्थो मे अपने माध्यम से सब कुछ समझना है। जो व्यक्ति सर्वज्ञात होना चाहता है, उसकी यात्रा अपने ही माध्यम से सम्पन्न होना जरूरी है। जो आवश्यक है, जो अपेक्षित है, उस तक पहुँचने के लिए अपना ही आश्रय सर्वोपरि है।

अध्यात्म, अन्तर् मे उतरने का तहखाना है, शरीर एक आकार है, एक प्रकार है। उस आकार, उस प्रकार के भीतर एक तहखाना है जो भीतर ही भीतर आत्मा के उज्ज्वल आलोक मे पहुँचा देता है। वहाँ पहुँचने का अर्थ है विभाव से परे हो जाना। वहाँ पहुँचने का अर्थ है स्थूल का परित्याग कर सूक्ष्म मे पहुच जाना। वहाँ पहुचने का अर्थ है, उन द्वारो को खोल देना जिनके खुलते ही अपार, अकूत, आत्म-धन उपलब्ध हो जाता है।

जैन दर्शन मे आत्मवाद—अध्यात्म का प्रमुख स्थान है। किसी भी प्रकार की जैन साधना का प्रमुख लक्ष्य आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है। आत्म-साधना मे शरीर एक साधन मात्र है। शरीर अनित्य, अशुद्ध होते हुए भी शक्ति का अनन्त स्रोत है। शरीर का सदुपयोग अध्यात्म के द्वारा ही सम्भव है।

वहिर्मुखता से हर वार आसक्ति तथा भोगो-उपभोगो के प्रति मूर्च्छना की उत्पत्ति होती रही है एव होती है। जवकि अन्तर्मुखता से सारा चिन्तन सासारिक पदार्थो पर नही वरन् आत्मपरक होता रहा, होता है एव होगा। अन्तर्मुखता से

ही विषय-भोग छूटते है। अन्तर्मुखता से ही उत्कर्ष सधता है, अन्तर्मुखता से ही कर्म जर्जरित होते हैं। सच तो यह है कि अन्तर्मुखता से ही अनासक्ति आती है।

अध्यात्म हमारी परम्परा मे आरम्भ से ही है। अब हम यदि इससे विमुख होते है तो यह हमारी मूर्खता है। कहा जायगा कि हम मूल से कट रहे है, उसी डाल को काट रहे है जिस पर हम बैठे हैं।

आज जो साम्प्रदायिकता यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है उसके मूल मे भौतिक व्यामोह ही है। इसे और सहजता से समझने के लिए यह सूत्र हम समझे - धर्म का शरीर सम्प्रदाय है और उसकी आत्मा अध्यात्म। ज्यो-ज्यो हम शरीर अथवा भौतिकी आग्रह अपनाते हैं हमारी साम्प्रदायिक भावना दृढ होती है। यदि हम आध्यात्मिकता की ओर बढेंगे तो हमारे आग्रह शिथिल पडेंगे। सम्प्रदाय भावना हमे व्यर्थ प्रतीत होगी।

सही अध्यात्म है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

मुझे यह कहने मे जरा भी सकोच नही होता है कि अध्यात्म ही मानव जीवन को अपेक्षित उत्स प्रदान कर सकता है। भौतिकता का आग्रह केवल क्षणिक लाभ अथवा सुख प्रदान कर सकता है। मै यहाँ पर भी कहना चाहूँगा कि अध्यात्म को प्रदर्शन के परिप्रेक्ष्य मे नही, उसे अपने वास्तविक परिप्रेक्ष्य ही मे निरखा, परखा व अपनाया जाना चाहिये। किसी भी व्यक्ति का आध्यात्मिक रुझान उसे अपने छिछले स्तरो से ऊँचा उठायेगा और कई प्रकार की बाधाये दुष्प्रवृत्तियाँ अपने आप ही इस प्रकार समाप्त हो जायेंगी। उन वृत्तियो का अन्त होने का मतलब—मानव जीवन की यन्त्रणाओ का अन्त हैं। यहाँ यह कहे कि आध्यात्मिक सस्थापना आज बेहद जरूरी ही नही अनिवार्य है तो कोई गलत बात नहीं होगी।

हमारे पास अध्यात्म की बहुत ही श्रेष्ठ परम्पराएँ हैं। व्यापक चिन्तन इसके एक-एक पहलू पर हुआ है। बड़े-बड़े प्रयोग हुए है, बडे-बड़े दृष्टान्त भी हमारे सामने है पर इस सब को भुलाकर ही हम कदम-कदम पर यन्त्रणाएँ भुगत रहे है पर मेरा अपना अटूट विश्वास है कि अध्यात्म को अपना कर हम पुन अपनी पहले सी उच्च स्थितियो मे आयेंगे।

यह केवल आदर्श कथन मात्र न माना जाय। इसे एक दूर की बात कहकर टाला नही जाये। जीवन के सम्पूर्ण सुख एव आनन्द के लिए हमे इस आदर्श को पाना ही होगा। जितना अधिक हम इसे पाते जायेंगे उतना ही हम उभरते चले जायेंगे। वक्त लग सकता है पर उभरने मे कोई बाधा है ऐसा नही कहा जा सकता। जरूरत है हमारे मन की तैयारी की। कई प्रकार के प्रलोभनो से आज मानव गुंथा हुआ है। पहले वह उन फन्दो से अपने आपको छुडाए और फिर सही मार्ग पर चल पड़े।

अच्छाई और बुराई तो सर्वदा रही है। एक-दूसरे की इस रस्साकशी मे ही तो अन्तत सही व्यक्ति जीतता है। हमे क्षण प्रतिक्षण सही होना है। हमारा हर व्यवहार भौतिक आग्रहो से मुक्त हो। हम मुक्त होगे, हम सफल होंगे, हम विजयी होगे। इसी आशा एव भावना के साथ हमे आगे और आगे बढना है। अन्त मे एक चतुष्पदी के साथ अपनी बात को विराम देना चाहूँगा।

स्वर के बिना कभी सगीत नही मिलता।
दिल के बिना कभी मीत नही मिलता।
अध्यात्म के अभाव मे शान्ति चाहने वालो—
दूध के बिना कभी नवनीत नही मिलता।



६

आसक्ति दुःखों की जड़ है, वही परिग्रह का हेतु है !

अपरिग्रह यानी जितना आवश्यक है उससे अतिरिक्त का त्याग। अब यहाँ 'आवश्यक' पर चिन्तन जरूरी हो जाता है। आवश्यकता की परिधि आज इतनी बढ गई है कि उसकी सीमा निर्धारित करना मुश्किल हो गया है। अपना एक विशाल आवास हो जिसमे सभी आधुनिक ससाधन हो, जैसे श्रेष्ठतम किचन रेंज, मनोरजन के लिए टी वी , वी.सी आर। गर्मी से वचाव के लिए कूलर, सर्दी से वचाव के लिए हीटर। आने-जाने के लिए वाहन इत्यादि अनेक आवश्यकताएँ भी आज गिनी जाये तो वे भी लाखो की सम्पत्ति को आवश्यक वना देती है। आज मनुष्य की सक्षमता—सहन क्षमता इतनी न्यून हो गई है कि उसकी निर्भरता वहुत वढ गई है। निर्भरता वढने से वह अर्जन क्षमता भी खोता जा रहा है अत. सग्रह वृत्ति मे वृद्धि हो गई है।

सच पूछा जाए तो विषमता सग्रह से वढती है। संग्रह के कारण एक व्यक्ति अथवा एक व्यक्ति समूह इतना सग्रह करके रख लेता है कि उस कारण से अनेक लोगो के चूल्हे भी नही सुलग पाते।

भगवान महावीर ने कहा है कि धन का अस्तित्व परिग्रह नही है। परिग्रह तो है मूर्च्छा—धन सम्पत्ति के प्रति ममत्व, उसके प्रति आसक्ति ! नि सन्देह उत्पादन की अधिकता एक मानवीय आवश्यकता है पर वह वहुल उत्पादन समाज कल्याण के लिए नही प्रयुक्त होता तो वह आसक्तिजन्य ही कहा जायगा।

आसक्ति रखने पर भिखारी भी परिग्रही कहा जायगा और आसक्ति न रखने पर धन सम्पन्न भी अपरिग्रही की श्रेणी मे गिना जायगा। दान वृत्ति का उदय इसी आसक्ति भाव को कम या समाप्त करने के लिए हुआ है।

आसक्ति किसी भी चीज की वुरी है। वह मनुष्य को भ्रमित करती है।

उसे उसकी मूल भावनाओ से विलग करती है और जब मनुष्य अपने मूल भावो से हटता है तो कई प्रकार की जटिलताएँ पैदा होती है।

एक इच्छा अनेक इच्छाओ को उपजाती है। तब मनुष्य सन्तोष का परित्याग कर देता है। परिग्रह भावना होने पर और बुराइयाँ आती है। इससे मनुष्य पाप व दुष्कर्म से भी धन सग्रह करने की वृत्ति मे निमग्न हो जाता है। इसी से मनुष्य डकैती-तस्करी-हत्या कर चोरी, झूठे हिसाब, झूठी गवाही मे प्रवृत्त होता है।

धन की चाह स्त्री को वेश्या बनाती है। परस्पर मनुष्य विद्वेषों मे फँसता है। भाई का भाई से, पिता का पुत्र से वैर स्थापित होता है। इससे मनुष्य के चारित्र का लोप होता है। उसकी नैतिकता पर प्रश्नचिह्न लगता है।

आज मोहग्रस्तता ही प्रमुख हो गई है। आज मनुष्य वानप्रस्थ व सन्यास की बात अपने मन मे लाता ही नही है। आज मनुष्य अहिंसा से विरत हो गया है। अहिंसा जो कि सब व्रतो की रक्षक है। आज मनुष्य परिग्रह को ही महत्त्व देने लगा है। आज राजा जनक कहाँ है ? आज मनुष्य जनक के समान यह नही कह सकता कि मेरा क्या जल रहा है। आज मनुष्य जरा सा भी नुकसान बर्दाश्त नही कर सकता।

आसक्ति ही सब दु खो की जड है, वही परिग्रह का हेतु है। अगर आसक्ति नही होगी तो हमे किसी भी वस्तु के खो जाने विकृत, हो जाने या नष्ट हो जाने का दुःख नही होगा। दु ख अथवा पीड़ा आसक्ति से—परिग्रह से ही उपजती है।

परिग्रह है तो भय भी है। भय यह कि कोई हमारी कोई चीज चुरा न ले। सदा उसकी सुरक्षा पर ध्यान रहेगा। उसके लिए तिजोरी, मजबूत ताले या बन्दूकधारी सन्तरी की व्यवस्था करनी होगी। कहाँ होते थे किसी जमाने मे ताले, कहाँ असुरक्षा की भावना विद्यमान थी ? परिग्रह ने ही यह भावना बलवती की।

अपरिग्रह सूक्ष्म रूप से पाँच महाव्रतो मे भी विद्यमान है। तो स्थूल रूप से श्रावक द्वारा सम्पादित किये जाने वाले अणुव्रतो मे भी। परिग्रह का वर्जन सर्वत्र है। किसी भी प्रकार के धर्मचिन्तन मे परिग्रह को योग्य नही माना गया है। चातुर्याम धर्म जो पार्श्वनाथ द्वारा पालित था उसमे तो ब्रह्मचर्य भी अपरिग्रह के अन्तर्गत रखा गया था।

तीन करण यानी करना-करवाना व अनुमोदन तथा तीन योग यानी मन-वचन-काया से परिग्रह का यावज्जीवन परिहार परिग्रह महाव्रत के अन्तर्गत आता है। मनोज्ञ व अमनोज्ञ शब्द-रूप-गन्ध-रस व स्पर्श का सेवन न करते हुए, उनमे आसक्त न होना व उस कारण से विवेकभ्रष्ट न हो जाना अपरिग्रह महाव्रत की भावना के अन्तर्गत आता है।

गृहस्थ जो महाव्रतो का सूक्ष्म रूप से परिपालन नही कर सकता उसके लिए स्थूल रूप से पालन हेतु अणुव्रतो की नियोजना है। इनमे उन सभी को आवश्यक प्रमाण से अधिक के लिए त्याग की बात कही गई है। उसमे क्षेत्र (जमीन), वास्तु (घर-गाँव आदि), हिरण्य (चांदी), सुवर्ण (सोना), धन (सिक्के जवाहरात), धान्य, द्विपद (नौकर-स्त्री-सतानादि), चतुष्पद (पशु), कुप्य (स्वर्ण व रजत के अतिरिक्त धातुएँ), व गृहोपयोगी अन्य सामानादि के परिग्रह का प्रमाणातिरिक्त त्याग किया जाना स्थूल परिग्रह विरमण व्रत के अन्तर्गत आता हे।

लोभ मोहनीय के उदय मे उत्पन्न होने वाली सचित्त आदि द्रव्यो को ग्रहण रूप आत्मा की अभिलाषा अर्थात् तृष्णा को परिग्रह की सज्ञा कहते हैं। परिग्रह संज्ञा चार कारणो से उत्पन्न होती है। वे चार कारण हैं—

१ परिग्रह की वृत्ति होना।

२ लोभ मोहनीय कर्म का उदय होना।

३ सचित्त-अचित्त और मिश्र परिग्रह की बात सुनना या देखना।

४ सदा परिग्रह का विचार करते रहना।

और आज ये कारण वहुत वल प्राप्त कर रहे है। अत परिग्रह वृत्ति भी विशेष रूप से वढ गई है। दु ख की बात तो यह है कि उन व्यक्तियो मे यह विशेष करके देखी जा रही है जो स्वय ही इस दर्शन के परिपालको मे माने जाते है। जो कभी महाजन कहे जाते थे, आज उनकी छवि दुर्जन के रूप मे स्थापित होने लगी है। धार्मिक जन तो खैर भौतिक कारणो से इस बुराई से ग्रस्त हुए है पर अध्यात्म के पोषक व सवाहक सत, मुनियो व आचार्यो मे भी परिग्रह के प्रमाण मिलने लगे है। इस तरह तो वागड ही खेत खाने लगी है। स्थिति इतनी विकट है कि इस महगाई के युग मे यहाँ तक लगने लगा है कि गृहस्थ सग्रह क्षमता खोता जा रहा है और धर्म के ठेकेदार इस मामले मे सक्षम होते जा रहे है। परिणाम-स्वरूप कुछ गृहस्थ यह मानने लगे है कि गृहस्थ जीवन की जटिलताओ के कारण उनका जीना हराम हो गया है जबकि धार्मिक सन्त आचार्यो को किसी प्रकार की चिन्ता नही है अत. गृहस्थ जीवन से सन्त जीवन सुगम हो गया है।

इस भावना के वशीभूत होकर अपात्र लोग भी सन्त वन गये है। उनसे तप-त्याग-साधना-संयम की अपेक्षा रखना व्यर्थ हो गया है। इस कारण से धर्म की हानि हो रही है। गृहस्थी तो परिग्रही ही है पर जो उन्हे सन्मार्ग देने वाले है वे भी परिग्रही हो हो चुके है, यह एक वडी विडम्बनापूर्ण स्थिति हो गई हे।

आज व्यक्ति को चाहिए कि वह उन स्रोतो से ही जीवन के चारित्र्य के उज्ज्वल कण पाए जहाँ मे उसे कुमार्ग पर जाने की आशका न हो। अभी इसके

आसक्ति दु.खो की जड़ है, वही परिग्रह का हेतु है!

अवशेष शेप है। अभी भी सन्त वर्ग मे विशेषकर जैन धर्म मे अपरिग्रह व साथ ही अन्य व्रतो के कठोर पग्पिालक मौजूद है। वे विशुद्ध रूप मे इस दर्शन की व्याख्या करने मे सक्षम है। उनके द्वारा जितना भी धर्म ग्रहण किया जा सकता है, किया जाना परम आवश्यक है।

सवसे अधिक विकृति आज परिग्रह के मामले मे ही आई है। मानवीय विनाश के हेतु शस्त्रास्त्र भी इसकी परिधि मे आ गये है। फलस्वरूप हर विश्व नागरिक भीतर ही भीतर भय-भीत है। उसे अभय प्रदान करना ही होगा और यह सक्षमता हमारे जैन धर्म मे प्रमुखता से विद्यमान है। यह विश्वधर्म बनने की भी क्षमता रखता है। अगर जैन धर्म की उज्ज्वलता प्रकट की जाय व इसे रचनात्मक रूप से प्रचारित-प्रसारित किया जाए तो यह मानव मात्र की हर यन्त्रणा को कम करके एक प्रशाति का वातावरण ला सकता है।

अपरिग्रह की बात करते-करते मैं जैन धर्म की उज्ज्वलता तक आपको लाया हूँ। तो अब इसे ही और आगे बढाते हुए मै जैन धर्म मे समन्वय की बात भी कर लेने की उत्सुकता लिए हुए प्रस्तुत हूँ।

जैन धर्म के बटे हुए सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय से इस धर्म की बड़ी हानि हुई है। मूल बात एक ही है, भूल है बस अपनी चिन्तन प्रणाली मे और व्याख्या भेद के कारण पृथकता आई है। सब अपना-अपना सचयन कर रहे है, उसे ही श्रेष्ठ कह रहे है और उसी मे वृद्धि करने के लिए लालायित है। मेरे विचार से यह भी एक परिग्रह ही है। परिग्रह के इस विग्रह को हमे त्यागना ही होगा। सगठन शक्ति का परिचय देकर हमारे ही धर्म मे स्थित सभी श्रेष्ठताओ को प्रथम स्वय अपने को अपनाना होगा और फिर उस दिव्यता से औरो को भी जोडना होगा। यदि यह हो सका तो धर्म के मूल उद्देश्य जन कल्याण को सम्वल मिलेगा।



७

गुणस्थान : आत्मोत्थान के सोपान

आरोह की ओर

आत्मा ही परमात्मा बनती है। परमात्मा की विशिष्ट रूप मे कोई पृथक् सत्ता नही है। आत्मा निखर कर ही जब अपने स्वरूप मे पहुँच जाती है तो वह परमात्मा कहलाती है। तब फिर इस परमात्मा का ससार से कोई सम्बन्ध नही रह जाता, सदा के लिए वह संसार से मुक्त हो जाता है। जितनी भी आत्मायें सिद्ध-शिला पर मिलती हैं, वे ज्योति मे ज्योति के समान एकाकार हैं।

इसे ही आत्म-विकास का सर्वोच्च सोपान माना गया है, जिस तक पहुँचने के लिए कई सोपान पार करने पडते है। आत्म-परिष्कार की उत्कृष्टता के साथ-साथ गतिक्रम आरोह की ओर बढता है। किस समय आत्म-शुद्धि का क्या स्तर है, उसकी कसौटी गुणस्थान के रूप मे निर्धारित है। सक्षेपत· आत्मोत्थान के मान-स्थान बताने वाले गुणस्थान होते है।

समग्र कर्म-मुक्ति

मूल-स्वरूप म तो ससारी एव सिद्ध आत्माओ मे कोई अन्तर नही है, जो अन्तर है, वह दोनो के वर्तमान स्वरूप मे है। वह कर्मो की श्लिष्टता या सपृक्ति का हे। जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त का निचोड यह है कि आत्मा का अजीव तत्व के साथ सयोग तथा उसका ससार मे परिभ्रमण कर्म-सलग्नता के कारण होता है। शरीर के साथ सम्बन्ध होने के बाद आत्मा की जिस रूप मे शुभ अथवा अशुभ परिणति होती है, तदनुसार उसके शुभ अथवा अशुभ कर्मो का बध होता है। इस तरह बधे हुए कर्म भोगने पडते है तथा निरन्तर सक्रियता के कारण नये कर्म भी बँधते रहते है। इस कर्म-बध को जहॉ एक ओर सयति-जीवन के माध्यम से सवरित किया जा सकता है, वही दूसरी ओर निर्जरा के रूप मे उनका उपशम एव क्षय भी सम्भव है। जब सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर लिया जाता है, तब आत्मा को मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस मोक्ष को हम कर्म-मुक्ति या आत्म-विकास का, आत्मोत्थान का सर्वोच्च सोपान कहते है, जो आत्मा को परमात्मा बनाता है।

इस दृष्टि से वर्तमान आत्म-स्थिति सासारिकता है। अन्य शब्दो मे—कर्म-संलीनता, उसकी इस हेतु विकास-दिशा, यही है कि वह कर्म-मुक्ति की ओर पग उठाए और समग्र कर्म-मुक्ति पर्यन्त सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान एव सम्यक्-चारित्र की आराधना मे निमग्न रहे।

दो छोर—बंध और मोक्ष

जब तक कर्म-बध का क्रम चालू रहेगा, तव तक आत्मा ससारी-आत्मा रहेगी एव समग कर्म-मुक्ति के वाद वह सिद्ध वन जायेगी। अतः आत्म-विकास के रूप मे जो पुरुषार्थ करना है, जो पराक्रम दिखाना है, उसका अर्थ कर्म-मुक्ति की दिशा मे ही कर्मठ और पराक्रमी वनना है। इस विकास-पथ का एक छोर कर्म-वध का है और दूसरा अन्तिम छोर—कर्म-मुक्ति।

आओ! आत्मा के मूल-स्वरूप एव कर्म-वध तथा कर्म-मुक्ति के दोनो छोरो को भली-भाँति समझने के लिए एक दृष्टान्त का आश्रय ले—'एक नया दर्पण है—बहुत स्वच्छ है। इसमे देखे तो आकृति एकदम हूबहू दिखाई देगी। फिर वह उपयोग मे आने लगता है, उस पर धूल-मिट्टी या चीकट जमने लगती है। कभी वन्द मकान मे पडा रहता है और धूल-मिट्टी की इतनी पर्ते जम जाती है कि उसमे प्रतिच्छाया तक दीखना वन्द हो जाती है। इस तरह वह दर्पण अपने अर्थ मे दर्पण ही नही रह जाता। इसी प्रकार आत्मा अनादि काल से इस ससार मे भ्रमण कर रही है। इसके स्वरूप पर उस दर्पण की तरह कर्मो का मैल लगता जा रहा है। अज्ञान एव विकार की दशा मे इस गर्त की पर्ते मोटी-से-मोटी चढती जाती है और वे क्रमश. इतनी मोटी हो सकती है कि आत्मा के गुणो की ओर, उसकी शक्तियो की झलक तक दीखना वन्द हो जाती है। आत्मा की इस स्थिति को हम उसकी पतितावस्था कह सकते है।'

किन्तु इस दृश्यहीन दर्पण को भी हम स्वभावहीन नही मान सकते, क्योकि उसका दृश्यत्व नष्ट नही हुआ है, बल्कि वह दव गया है। यदि पूरे मनोयोग और परिश्रम से उसे साफ करने का यत्न किया जाय तो वह फिर से यथापूर्वक साफ हो सकता है। सही ज्ञान, सही आस्था एव सही आचरण की सहायता से इस ससारी आत्मा पर लगे कर्म-मैल को धोने का कठिन प्रयास भी किया जाये तो भावना एवं साधना की उत्कृष्टता से आत्मा को उसके मूल-स्वरूप मे अवस्थित कर सकते है पूर्ण निर्मल, पूर्ण सशक्त।

इसी के साथ इस तरह कर्म-मुक्ति के अन्तिम छोर की उपलब्धि हो जाती है।

कर्म-सिद्धान्त और गुणस्थान

जैन-दर्शन का कर्म सिद्धान्त मनुष्य को ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व अथवा

भाग्यवाद के भ्रम से मुक्त करता है और उसे अपने भाग्य का स्वय निर्माता होने का विश्वास दिलाता है। हम आज जो कुछ भुगत रहे है, अच्छा या बुरा, नि सन्देह उसकी जडे भूतकाल मे है, जिन्हे हमने कभी रोपा है। अर्थ स्पष्ट है कि मनुष्य या कोई भी प्राणी स्वय अपने भाग्य का निर्माता तथा अपने कर्म-भोग के लिए स्वय उत्तरदायी होता है। जैसा कर्म वैसा फल, यह है कर्मवाद। पाप-कर्म आत्मा को डुवोता है, पुण्य इसे तैराता है। किन्तु पुण्य-कर्म को भी नाव के समान छोडने पर ही दूसरे किनारे पर पाव रखा जा सकता है। सभी प्रकार के कर्म-क्षय के वाद ही मोक्ष का दूसरा तट हाथ लगता है।

ससार के महोदधि मे कौन-सी आत्मा कितनी डूवी हुई है या कौन-सी किस ओर तैर रही है अथवा कौन-सी कव किनारे लग जायेगी ? इसकी जो मापक-दृष्टि है, वही गुणस्थान दृष्टि है। आत्मा का गुण है उसका मूल-स्वरूप। इसी की सम्पूर्ण उपलब्धि की दृष्टि से आत्मा के विकास-सोपान का निर्णय गुण की दृष्टि से ही सम्भव होता है।

आत्मोत्थान के चौदह सोपान

मोह और योग के निमित्त से सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन एव सम्यक्-चारित्र रूप आत्मा के गुणो की तारतम्यता, हीनाधिकतारूप अवस्थाविशेष को गुणस्थान कहते है। अन्य शब्दो मे मोह, मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अतरग परिणामो मे प्रतिक्षण जो उतार-चढाव रहता है उसे गुणस्थान कहते है। गुणस्थान के इस रूप मे चौदह सोपान कहे गए है—

१. मिथ्यात्व,
२ सास्वादन
३ मिश्र
४ अविरत सम्यक्दृष्टि,
५. देशविरत श्रावक,
६ प्रमत्तसयत,
७ अप्रमत्तसयत
८. निवृत्तिवादर,
९. अनिवृत्तिवादर,
१०. सूक्ष्मसम्पराय,
११ उपशातमोह,
१२. क्षीणमोह,
१३ सयोगी केवली,
१४ अयोगी केवली।

आत्मा का मूल-स्वरूप शुद्ध चेतनामय, शक्ति-सम्पन्न तथा आनन्दपूर्ण होता है। कर्मो के आवरण दर्पण की धूलि पर्तो की भाँति उस स्वरूप को ढक देती है। इन आठ कर्मो के आवरणो मे सवसे सघन आवरण होता है—मोहनीय कर्म का। इसे सव कर्मो का राजा कहा गया है। मोह आत्म-भावो मे जव तक वलवान रहता है, दूसरे कर्मो के आवरण भी कठिन वने रहते है और यदि इस

मोह-दुर्ग की प्राचीरे तोडी जा सके तो अन्य कर्म सूखे पत्तो की तरह स्वय झडने लगते है।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो है—१ आत्मा के दर्शन को अवरुद्ध बनाती है। उसके स्वरूपानुभव को कुण्ठित करती हैं। २. यदि स्वरूपानुभव कदाच कुण्ठित न हो पाये तो भी उसे कर्म-क्षय कराने वाली प्रवृत्तियो मे जुटने नही देती। स्वरूप के यथार्थ-दर्शन तथा उसमे स्थिति होने के प्रयास रुद्ध करने वाली शक्तिया मोह-कर्म की होती है। इन्हे दर्शनमोह एव चारित्रमोह की संज्ञा दी गई है।

आत्मा की विभिन्न स्वरूप-स्थितियाँ इसी मोहनीय के हिंडोले मे झूलते हुए बनती है। आत्मा का पतन और उत्थान, पतन से उत्थान और उत्थान से पुन पतन इसी हिंडोले मे होता है। जो आत्मा इन गुणस्थानो की स्थिति को समझ कर अपने मनोभावो आदि मे आवश्यक सतुलन एव स्थिरता अर्जित कर लेती है, वह क्रमश ऊपर के गुणस्थानो मे चढती रहती है तथा अपनी साधना की अन्तिम परिणति मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

आत्म-शक्तियो का आरोह-अवरोह

अविकसित तथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान मे होती है। इसमे मोह की दोनो शक्तियो का जोर बना रहता है और वे दृढता से आत्म-स्वरूप को आच्छादित कर लेती है। इस अवस्था मे आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति लगभग पतित सी होती है और कैसा भी आधिभौतिक उत्कर्ष के होने पर भी उसकी प्रवृत्ति तात्विक लक्ष्य से पूर्णतः शून्य ही बनी रहती है। ऐसी आत्मा की गति दिग्भ्रात होती है तथा वह विपरीत प्रवृत्ति मे यात्रा करती रहती है। यही मिथ्यादर्शन है। मिथ्यात्व नाम जडता का है, उस जडता का जिसमे मोह का प्रभाव प्रगाढतम होता है।

जैसे ही अपनी विकास-यात्रा के आरम्भ मे आत्मा दर्शनमोह पर यथा-पेक्षित विजय प्राप्त करती है, वैसे ही वह प्रथम से तृतीय गुणस्थान मे प्रवेश कर लेती है। इस समय पर-स्वरूप मे स्व-स्वरूप की जो भ्राति होती है, वह दूर हो जाती है और तीसरे गुणस्थान के प्रभाव से विपरीत प्रवृत्ति भी विकासोन्मुख बनने लगती है। तीसरा गुणस्थान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्र रूप होता है। कभी दर्शन-मोह मन्द पड़ जाता है, कभी वह फिर सशक्त हो उठता है। तीसरे गुणस्थान मे यह धूप-छाव चलती है।

जब परमात्वस्वरूप को आत्मा देखने और समझने लगती है तो वह चौथे सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान मे बैठती है। यहाँ उसकी दृष्टि मे सम्यक् दृढ बनता है,

किन्तु वातावरण की प्रवृत्ति वदलती नही है अविरति स्थिति वनी रहती है। चौथे गुणस्थान से आगे के समस्त गुणस्थानो की दृष्टि सम्यक् मानी जाती है। कारण आगे के गुणस्थानो मे उत्तरोत्तर विकास, दृष्टिशुद्धि और व्रतो की क्रियाशीलता के फलस्वरूप परिपुष्ट वनती चलती है।

मोह की प्रधान शक्ति दर्शन-मोह के मन्द होने से व चारित्र-मोह के शिथिल होने से पाँचवे गुणस्थान की अवस्था प्रारम्भ होती है और आत्मा अविरति स्थिति से देश-विरति की स्थिति मे प्रस्थान करती है। यहाँ मोह की अभय-शक्तियो के विरुद्ध एक उत्क्राति घटित हो जाती है।

देश-विरति से आत्मा को अपने भीतर स्फूर्ति एव शान्ति की सच्ची अनुभूति होती है। यहा इस अनुभूति को विस्तृत, विशद वनाना चाहती है और सर्वविरति के छठे गुणस्थान के सोपान पर पग रख देती है। यह सीढी जड-भावो के सर्वथा परिहार की सीढी होती है। इस अवस्था मे पौद्गलिक भावो पर मूर्च्छा समाप्त हो जाती है तथा सयम-साधना मे गहरी निष्ठा उत्पन्न हो जाती है। फिर भी इस सोपान पर प्रमाद का कमोवेश प्रभाव वना रहता है।

प्रमाद पर विजय पाने का सातवा गुणस्थान होता है अप्रमादी साधु का। विशिष्ट आत्मिक शान्ति की अनुभूति के साथ विकासोन्मुखी आत्मा प्रमाद से जूझने मे जुट जाती है। इस अद्वितीय संघर्ष मे आत्मा का गुणस्थान कभी छठे और कभी सातवे मे ऊँचा-नीचा होता रहता है।

विकासोन्मुख आत्मा जव अपने विशिष्ट चरित्र-वल को प्रकट करती है तथा प्रमाद को सर्वथा पराभूत कर लेती है तव वह आठवे गुणस्थान की भूमिका मे पहुँच जाती है। पहले कभी नही हुई, ऐसी आत्म-शुद्धि इस निवृत्तिवादर गुण-स्थान मे होती है। आत्मा मोह के सस्कारो को अपनी सयम-साधना एवं भावना के वल से दवाती है और अपने पुरुषार्थ को प्रकट करती हुई उन्हे विल्कुल उपशान्त कर देती है। दूसरी आत्मा ऐसी भी होती है, जो मोह के सस्कारो को सर्वथा निर्मूल कर देती है। इस प्रकार इस गुणस्थान मे आत्म-शक्ति की स्वरूप स्थिति दो श्रेणियो मे विभक्त हो जाती है। आत्म-शक्तियो की ऊँची-नीची गति इन्ही दो श्रेणियो का परिणाम होता है। मोह के संस्कारो को उपशान्त करने वाली आत्मा कभी-कभी इस गुणस्थान से तल तक पतित हो जाती है। जैसे अंगारे राख से ढके हुए हो और हवा ने एक तेज झोके से सारी राख उड जाती हैं और अगारे धग-धग करने लगते हैं। पहली श्रेणी मे ऐसी दुर्दशा सम्भव हो सकती है, किन्तु दूसरी श्रेणी मे प्रविष्ट आत्मा को ऐसे किसी अधःपतन की आशका नही रहती।

चाहे पहली श्रेणी वाली आत्मा हो या दूसरी, वह अपनी उत्कृष्टता से एक वार नवा, दसवा गुणस्थान प्राप्त करती ही है। फिर ग्यारहवे गुणस्थान को

प्राप्त करने वाली आत्मा एक बार अवश्य पतित हो जाती है। दूसरी श्रेणी की आत्मा मोह को निर्मूल बनाकर सीधे दसवे से बारहवे गुण-स्थान मे प्रवेश कर जाती है।

जैसे ग्यारहवा गुणस्थान पुनरावृत्ति का है, वैसे ही बारहवा गुणस्थान अपुनरावृत्ति का है। ग्यारहवे गुणस्थान मे प्रवेश करने वाली आत्मा का अध पतन होता ही है। लेकिन उसको लाघकर बारहवे गुणस्थान मे प्रवेश कर जाने वाली आत्मा का परम उत्कर्ष असदिग्ध हो जाता है।

उपशम श्रेणी मे पतन की आशका रहती है तो क्षपक श्रेणी मे उत्थान का अपरिमित विश्वास। इस दृष्टि से मोह का सर्वथा क्षय सर्वोच्च आत्म-विकास का पट्टा होता है। तेरहवे और चौदहवे गुणस्थानो की भेद-रेखा अति सूक्ष्म है, जिसे पार कर लेने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेती है तथा परमात्म स्वरूप बन जाती है।

मोह का आक्रमण-प्रत्याक्रमण

मोहनीय भावो मे आत्मा जब तक पूर्णतया सलीन डूबी रहती है तब तक वह मिथ्यात्व के अन्धकार मे भटकती रहती है और उसकी स्थिति पहले गुण-स्थान मे होती है। इस अवस्था मे जब कभी किसी कारणवश दर्शन-मोह के भावो मे कुछ शिथिलता आती है तो आत्मा की विचारणा जड से चेतन की ओर मुडती है। चेतन की ओर मुडने का अर्थ है—पर-स्वरूप से हटकर स्व-स्वरूप की ओर दृष्टि का फैलाव। चेतन तत्व अर्थात् निज स्वरूप की ओर दृष्टि जाने से उसे एक अभिनव रसास्वादन की आतरिक अनुभूति होती है। जिससे मिथ्यात्व की ग्रन्थि खटकने लगती है। इस समय आत्म-क्षेत्र रणभूमि बन जाता है। एक ओर मोह के सस्कार उनसे उभरने की निष्ठा बनाने वाली आत्म-शक्ति पर आक्रमण प्रत्याक्रमण करते है तो दूसरी ओर जागरूकता की ओर बढने वाली आत्म-शक्तियाँ उन आक्रमण-प्रत्याक्रमणो को झेलती है। इस युद्ध मे आत्म-शक्तियाँ यदि विजयी होती है तो वे आत्मा को प्रथम गुणस्थान मे तृतीय और चतुर्थ मे पहुँचा देती है। किन्तु यदि मोह के सस्कारो की प्रबलता बनी रहती है तो ऊपर की भूमिकाओ से लुढक कर वह पुनः मिथ्यादृष्टित्व की खाई मे गिर जाती है। इस पतन मे आत्मा की जो अवस्था रहती है, वह दूसरा गुण-स्थान होता है। इस गुणस्थान मे पहले की अपेक्षा आत्म-शुद्धि अधिक होती है, लेकिन यह दूसरा गुण-स्थान उत्क्रान्ति का स्थान नही होता। उत्क्रान्ति करने वाली आत्मा पहले मे तीसरे गुणस्थान मे जा सकती है और अवक्रान्ति करने वाली आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर तीसरे मिश्र गुणस्थान मे पहुँच सकती है। मोह-भावो का अन्तिम आक्रमण-

प्रत्याक्रमण नवे, दसवें गुणस्थानो की प्राप्ति के समय होता है। जहाँ समस्त मोह-सस्कारो का सम्पूर्ण क्षय कर लेने वाली आत्मा दसवें से बारहवें गुणस्थान में छलाग लगा जाती है और वहाँ से अपने चरम लक्ष्य की उपलब्धि असदिग्ध कर लेती है। इसके विपरीत मोह-सस्कारो का शमन मात्र करने वाली आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान मे प्रवेश करे ही, यह आवश्यक नही है। वह भी अपनी उत्कृष्टता में से बारहवे गुणस्थान मे पहुँच सकती हे, परन्तु जो आत्मा एक बार ग्यारहवें गुण-स्थान मे चली जाती है, उसका पुन पतन निश्चित रूप मे होता है।

दर्शन एव चारित्र मोहनीय-कर्म की प्रभावशीलता अथवा प्रभावहीनता के आधार पर ही आत्मा की अवक्रान्ति अथवा उत्क्रान्ति निर्भर है।

मोह-संस्कारो का समूल क्षय

सम्यक्दर्शन, ज्ञान एव चारित्र की एकाग्र साधना को मोक्ष-मार्ग कहा है। कर्म मुक्ति है, मोक्ष है, कर्मो मे सर्वाधिक शक्तिशाली मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए अपने ज्ञान और अपनी निष्ठा को सम्यक्त्व की भूमिका पर लाने की जरुरत पडती है।

ज्ञान और आस्था के सम्यक् बन जाने पर सद्दृष्टि का विकास होता है। सद्दृष्टि वह है, जो जड को जड और चेतन को चेतन तद्रूप स्पष्ट समझाती है। इसके माध्यम से आत्मा अपने मूल स्वरूप को पहचान कर परमात्म स्वरूप का दर्शन करती है।

जैसे दर्शन-मोह के मन्द होने पर सद्दृष्टि का विकास होता है, वैसे ही चारित्र-मोह के मन्द होने पर व्रतनिष्ठा का जन्म एव विकास होता है। दृष्टि सम्यक् होती है, तो सम्यक् चारित्र की आराधना का क्रम भी प्रखर बनता है। एक छोटे-से व्रत को लेकर महान् साधु-व्रत का परिपालन करते हुए आत्मा जब रत्नत्रय की उपासना मे सुस्थिर बन जाती है तब वैसी विकासशील आत्मा मोह के सस्कारो का समूल क्षय करती है। उपशम की अपेक्षा क्षय की दशा मे पग बढना महत्वपूर्ण होता हे। इसीलिए ऐसी आत्मा एक दिन अपना पूर्ण उद्धार कर लेती है, जिस परमात्म-स्वरूप का वह दर्शन करती है, उसी परमात्म-स्वरूप का वह वरण भी कर लेती है। तब आत्मा सदा-सर्वदा के लिए अपने निज स्वरूप मे स्थित हो जाती है।

अरिहंत पद

जो अपने आत्म-शत्रुओ को नष्ट कर देते हैं, उसे "अरिहत" कहते है। अरिहत एव सिद्ध अवस्था मे शरीर-त्याग के सिवाय अधिक अन्तर नही होता। किन्तु मिथ्यादृष्टि से लेकर आत्मा अपने ही विकारो के साथ युद्ध करती अपनी सद्भावना एव निष्ठा के बल पर कर्म शत्रुओ को नष्ट करती, इस आध्यात्मिक

युद्ध मे आत्मा विकास के सोपान स्वरूप इन गुणस्थानो पर क्रमश. चढती रहती है।

सघर्ष को विकास का मूल कहा गया है। आध्यात्मिक सघर्ष मे आत्मा की निर्मलता की अभिवृद्धि होती है। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वन्द्विता मे भी साधारण सघर्ष के समान तीन अवस्थाएँ होती है। पहले कभी हार कर आत्मा पीछे गिरती है, दूसरी अवस्था मे प्रतिस्पर्धा मे डटी रहती है तथा तीसरी अवस्था मे विजय को वरण करती है।

इस आध्यत्मिक युग मे कर्मो के आक्रमण-प्रत्याक्रमण आत्म-शक्तियो को गम्भीर चुनौती देते है। यद्यपि सतत जागरूकता के बावजूद कई बार कठिनाइयो से उसमे व्यग्रता और आकुलता भी उत्पन्न हो जाती है। यदि आत्म-विश्वास और साहस के वल पर गुणस्थानो का एक-एक सोपान चढती हुई वह रणभूमि मे डट जाती है। भावना एव साधना की दृढता तथा उत्कृष्टता तब तक उस आत्मा को गुणस्थानो की उच्चतर श्रेणियो मे चढाती रहती हैं जिसके अन्तिम परिणाम-स्वरूप उसे कर्म-शत्रुओ पर विजय की आनन्दानुभूति होती है। वह अरिहत बन जाती है, आत्मा।

समझकर आगे बढ़ो

आत्म-विकास की क्रमिक अवस्थाओ, गुणस्थानो को जो भली-भाँति समझ लेता है, वही आध्यात्मिक समर के मर्म को समझता जाता है। आत्मिक शक्तियो मे आविर्भाव की, उनके शुद्ध कार्य रूप मे परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्थाए ही "गुणस्थान" है। आत्मा की विकास-यात्रा के सारे पडाव अविकास से विकास की ओर चौदह गुणस्थानो मे देखे जा सकते है तथा प्रतिपल गुणस्थान कौन-सा है, इसका मूल्याकन किया जा सकता है।

आत्म-विकास के सोपान गुणस्थानो का यह सिद्धान्त इस दृष्टि से वडा महत्वपूर्ण है तथा जो सद्विवेक एव सद्प्रवृत्ति के साथ नीचे से ऊपर के सोपानो पर अपने चरण बढाते रहते है, वे अन्ततोगत्वा अपने जीवन के चरम-लक्ष्य को अवश्य उपलब्ध कर लेते है।



८

हम अपनी श्रेष्ठता कायम रखें !

हमारे पास हमारे दर्शन पर गर्व करने के पुष्ट प्रमाण है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हम किसी भी दर्शन पद्धति से कतई कम नही है बल्कि हमारी श्रेष्ठता सर्वोपरि है, अद्वितीय है, अनुकरणीय है।

सबसे बडी बात

सबसे बडी बात जो हमारे पक्ष मे जाती है वह यह कि हम किसी जाति विशेष से बधे हुए नही है। हमारे तीर्थंकर क्षत्रिय है, हमारे गणधर ब्राह्मण है और ऊँचे से ऊँचा तथा निम्न से निम्न वर्ग का व्यक्ति हमारे दर्शन की परिधि मे आ सकता है।

एक और बडी बात यह है कि हमारे दर्शन मे आत्मा को ही केन्द्रबिन्दु माना है। सब कुछ इसी के इर्द-गिर्द बुना हुआ ताना-बाना है। हमारे आचरण मे, हमारे अभ्युदय मे आत्मचिन्तन व आत्म-सक्रियता को विशेष महत्व प्राप्त है।

विशुद्धि का महायज्ञ

मानव मात्र के आचरण मे क्रमश विशुद्धता हमारे दर्शन का वैशिष्ट्य है। अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, सत्य व ब्रह्मचर्य ये हमारे महाव्रत हैं और अणुव्रतो मे इनकी गणना है। इन तत्वो का जितना गहरा चिन्तन हमारे दर्शन मे उपलब्ध है, अन्यत्र नही।

इन व्रतो के सम्यक् परिपालन मे जीवन की उत्कृष्टता निहित है। इनकी आचरण मे समाहिति एक पूर्ण विशुद्धि की सरचना करती है। इन्हे आचरण मे ढालने से सारे कर्ममल विसर्जित हो जाते है, विकार नष्ट हो जाते हैं।

अहं से परे

इतनी श्रेष्ठता को प्राप्त करके भी हमे यही शिक्षा मिली है कि हम विनम्रता का परित्याग न करे। किसी भी उलझन या सघर्ष की स्थिति मे हम स्वय अपनी ओर से क्षमा की चाह करते है। स्वय पाते है, अन्यो को प्रदान करते

है। हमने इस प्रवृत्ति को एक पर्व रूप भी दिया है। पर क्रिया मे पर्व की प्रतीक्षा नही करते हर पल हर क्षण इसकी चिन्तना को प्राथमिकता देते है। न केवल जाने हुए वरन् अजाने अविनय के लिए, न केवल परिजन बल्कि समस्त चराचर, जीव-अजीव सभी से हम क्षमा का आदान-प्रदान करते है।

सर्वप्रिय कथन

जब भी हमारे सन्त एव विद्वान हमारे धर्म, हमारे दर्शन का विवरण देते है, उनकी व्याख्या करते है तो उनका कथन सर्वजनो को प्रिय व मृदु लगता है क्योकि उसमे किसी के लिए द्वेष आक्रोश अथवा उकसाने के स्वर नही होते है। श्रेष्ठतम होते हुए भी हम अन्य के चिन्तन, कथन को पूर्णत निरस्त नही करते। हम उसके कथन व चिन्तन को भी खंखलोते हैं, पुनः परीक्षण करते है और सार रूप मे एक विशुद्ध स्वरूप पाते है। यह हम हमारे दर्शन मे वर्णित अनेकात सिद्धान्त के कारण कर पाते है। हमारे चिन्तन मे एकान्त दृष्टि को अवकाश नही है।

तर्क नहीं यथार्थ

तर्क की भूमि सशय है। सशय से अनेक तर्क उपजते है और फिर उन्ही की पुष्टि के प्रयत्न होते है। हमारे दर्शन मे सशय का समावेश नही है। हम जीवन के यथार्थ दृष्टिकोण से युक्त रहते है। जो यथार्थ है, वास्तविक है उसमे सशय की तलाश व्यर्थ है, यह तथ्य हम भली भाँति जानते है। जो भी हमारे तीर्थकरो, आचार्यो, विद्वानो के समक्ष सशय लेकर आया उसे प्रकट करने के पहले ही समाधान मिल गया।

व्यापक प्रभाव

हमारे दर्शन, हमारे चिन्तन, हमारी साधना पद्धति, हमारे जीवन व्यवहार का सर्व कालो मे सर्व स्थितियो मे जन-जन पर व्यापक प्रभाव पडा है। अन्य रूपो मे जन-मन को भटकन की सौगात मिली, हमारे दर्शन ने प्रशान्ति तथा सतुलन का उपहार दिया है।

हमारे दर्शन के प्रभाव से स्थितियाँ बदली है। परम्पराओ ने नया मोड लिया है। नई तथा श्रेष्ठ स्थापनाएँ हुई है। चाहे नाम बदल कर चाहे स्वरूप बदलकर अन्य दर्शन व धर्म प्रणालियो ने हमारे चिन्तन को अपनाया है।

तू स्वयं ही तेरा गुरु

हमारे दर्शन मे जरा भी निर्भरता नही है। स्वय अपने से ही हम निदेश पावे, यह एक अपूर्व नियोजना है। अन्यो से हमे केवल सकेत मिल सकते है पर अन्तिम निर्णय अधिकार हमारे अपने ही पास सुरक्षित है। इसका सबसे बडा लाभ यह है कि हमारे वचन और कर्म मे एकरूपता होती है। हमारी कथनी व करनी मे

कोई भेद नही होता। फलस्वरूप हमारा दर्शन एक काल तक सिमट कर नही रहा वरन् वह कालातीत हो गया। जितना अभय हमारे दर्शन के परिपालको को उपलब्ध है, उतना कही और नही।

तत्त्वो के विकसित स्वरूप

हमारे दर्शन मे अहिंसा, सत्य, करुणा, सद्‌भाव, पारस्परिकता, निर्वैरता आदि अनेक तत्त्वो का विकसित स्वरूप विद्यमान है उतना गहराई भरा व विस्तृत चिन्तन अन्यत्र विरल ही उपलब्ध है। इन्हे आधार मान कर आज के युग मे शान्ति, समाजवाद, मानवतावाद आदि सर्व क्षेत्रो मे उत्पन्न सभी समस्याओ के योग्य निदान खोजे जा सकते है। उस आलोक मे हम आचरण की विशुद्धता को अधिकाधिक श्रेष्ठता से स्थापित कर सकते है। इतनी गहराई से तत्त्वचिन्तन करने के कारण ही व्यक्ति की सर्वरूपेण जागृति की सभावना का उदय होता है तभी तो हम कहते है कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष कर मानव से महा-मानव (अर्हत्) बन सकता है।

ईश्वर सत्ता का निषेध

हमारे दर्शन मे मान्य है कि आत्मा स्वय ही अपने कर्मोदय से सुख-दु.ख जीवन-मरण पाता है कोई अन्य इसमे कारण नही है। विभिन्न द्रव्यो के बीच कोई सम्बन्ध नही है। सब अपने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का स्वय कर्त्ता है। उसके परिणमन मे अन्य किसी का रचमात्र भी हस्तक्षेप नही है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। कोई किसी के अधीन नही। ईश्वर जगत का कर्ताहर्ता नही, वह तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा है।

बदली हुई स्थितियाँ

इतने अपूर्व दर्शन के ज्ञाता व परिपालक होने पर भी आज हमने निहित तत्त्वो व तथ्यो का स्वरूप ही बदल दिया है। अपने स्वार्थ, अपनी प्रतिष्ठा व अपने विपरीत आचरण को गरिमा प्रदान करने का क्रम प्रारम्भ कर दिया है। अत हमारे स्वरूप मे एक अनचाही विकृति आ गई है। समय रहते सचेत न हुए, परिष्कार न किया तो हमारी प्रस्तुति व्यर्थ चली जायेगी। उसे कोई अपनाने को तैयार न होगा। यूँ हम अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारने की क्रिया मे सलग्न हो गये है। निश्चय ही किसी भी स्थिति मे हमारा धर्म, हमारा दर्शन स्तरहीन नही होता मगर हमारे गिरते स्तर, हमारी पतितावस्था के कारण उसे अपनाने मे आने वाला कल नकार के भाव ला सकता है। एक हमारे कारण सर्व कल्याण की स्थिति को विराम लग सकता है। यह मानव मात्र के लिए हमारी ओर से अपकार होगा। हमे इसे उपकार मे बदलने के लिए चिन्तन करना चाहिए। यूँ न हो कि कल कोई महावीर का नाम लेवा ही न रहे। 

९

पर्व प्रदर्शन के नहीं : आत्म-निरीक्षण के हेतु

पर्युषण-महापर्व आत्म-जागरण का पर्व है। अपने आप पर अपने अनुशासन का पर्व है। विभाव से स्वभाव की ओर बढने का पर्व है। समग्र कषायो से विरति का एक सकल्प लेते हुए क्षमा, विनय, सरलता, समता एव सतोष की अभिवृद्धि करने का महापर्व है।

सर्वथा विशुद्ध इस आध्यात्मिक पर्व मे, आत्म-निरीक्षण, आत्म-चिन्तन एव आत्म-रमण, स्वभाव-रमण की विशुद्ध क्रियाए निहित है। गर्व पर तुषारापात करता यह पर्व क्षमा की दिव्यता को प्रकट करता है। क्षमा तो यो ही एक दिव्य इकाई है फिर उसे पर्व रूप देने का प्रयोजन क्या है ?

एक वर्ष काल और उसमे भी वर्षा काल जीव अजीव के प्रति मानव द्वारा किये गये अतिचार पर चिन्तन करने का अवसर देता है। विभिन्न प्रकार के तप, सन्तो के प्रवचन-श्रवण तथा अन्य अनुपमेयताओ का एक चरम होता है सवत्सरी महापर्व और चरम पर पहुँच कर सब कुछ एक बारगी जैसे थम जाता है। नई शुरुआत के पूर्व पहले की त्रुटियो, अविनयो पर एक हार्दिक भावना से व्यक्ति क्षमा याचना करता है।

यह बात अलग है कि यह हार्दिकता कितनी अधिक होती है ? या इसके बाद त्रुटियो को दोहराने पर कितना विराम लगता है ? इसमे यदि न्यूनता है तो यह मनुष्य की स्वय की है, पर्व की भावना पर इसमे आच नही आती। आच आती है तो पर्व की व्यवहृति पर।

प्रतिवर्ष पर्व आता है। प्रति वर्षवणिक के समान पिछले दुरावो, दुर्भावो के खाते बन्द हो जाते हैं। पर पर्व के जाते ही पुन वणिक के समान ही नये खाते भी खुल जाते हैं।

यह महान पर्व यह अहसास तो ही दिला ही देता है कि मानव भूलो का पुतला है। भूल होना या तनाव उपजना स्वाभाविक है। यह पर्व हो या न हो, यह सब तो होगा ही। परन्तु इन सब मे बार-बार की पुनरावृत्ति, इस पर्व की भावना पर कुठाराघात करती है। हमारे यहाँ पर्व, त्यौहारो का आधिक्य है, किंतु पर्व मात्र यदि प्रदर्शन का विषय बनकर रह जाते है, तो एक दुर्भाग्य की स्थिति उपजती है।

पर्युषण जीवन के प्रति चिन्तन का भाव जगाने वाला पर्व है। हम इस पर्व के आलोक मे जीवन के प्रति एक गाम्भीर्य ग्रहण करते हैं, और ओछेपन से बचते हैं। पर्व के द्वारा हम अपने जीवन का वह स्वरूप ढाल सकते हैं जो उच्चता लेकर आये।

पर्युषण पर्व जीवन को किसी प्रकार के दूषण से बचाता है। यह दुराबो के प्रदूषण से बचाने वाला पर्व है, यही इसका अर्थ और सार्थकता है। एक विद्वान विचारक के शब्दो मे पर्युषण की बहुत ही सार-गर्भित विवेचना देखिये —

"परि समंतात् ओषति, दहति
समूलं कर्मजालं यत् तत् पर्युषणम्"

आत्मा के चारो ओर छाये हुए कर्मों के कचरे को, जो समूल रूप से नष्ट करदे, जलादे उसी का नाम पर्युषण है।

इस कथन मे कर्मजाल के समूल विनष्टि की बात वर्णित है, इस कथन मे दाह की बात है। जब कर्मजाल नष्ट हो जाते है तब उनसे जुड़े मोहादि भी समाप्त हो जाते हैं, और चल पड़ता है एक असमाप्त-क्रम जिसके अन्तर्गत एक पावनता, एक निःस्वार्थ वृत्ति का मगल उदय होता है। इसमे फिर अपने अस्तित्व का विलोप हो जाता है। व्यक्ति एक निर्वैयक्तिक स्वरूप मे ढलने लगता है। जहाँ व्यक्तिकता नही होती, वहाँ स्वार्थ नही होता, द्वेप नही होता, और जहां द्वेप नही होता वहाँ किसी प्रकार की कटुता नही होती, और जहाँ कटुता नही होती वहाँ कभी वैपरीत्य और वैषम्य का विप नही होता। सच तो यह है कि पर्युषण निश्चत रूप से विप वृद्धि का नही अपितु अमृत का पर्व है। अब सोचना यह है कि हमने जहर को ही बढाया या अमृत को आत्मसात किया ?

पर्युषण के इन आठ दिनो मे पूरी ईमानदारी के साथ हम अपने अन्तःकरण को टटोलें कि हमने अज्ञान व अविवेक से सप्रेरित होकर, मन, वचन और काया को जिस प्रकार विकृति, विभाव, कपाय के क्षेत्रो मे जोडकर जीवन मे जिन समस्याओ से ओत प्रोत बने, विवेकपूर्वक चिन्तन करते हुए, मुक्त होने के लिये

ज्ञान, चारित्र तप आदि की स्थितियों से अपने आप को जोड़ें। अत पर्युषण मोटे रूप मे, जैनो के पर्व के रूप ने स्थापित हो चुका है और इसे एक व्यवहार के रूप मे सम्पन्न कर दिया जाता है। परन्तु हम सूक्ष्मता देखें तो पायेंगे कि यह जन-जन के लिए उपयोगी पर्व है इसके माध्यम से व्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक या यू कहे कि समष्टिगत सारी की सारी कटुता, सारा का सारा विष सहजता से सोख लिया जा सकता है।

मै यहाँ स्पष्ट रूप से कहना चाहूँगा कि हमे पर्व के निर्वाह से ही काम नही रखना चाहिये अपितु उसे अपने जीवन मे स्थान देना है। हमे भूल जाना चाहिये कि यह पर्व किसी वर्ग विशेष का पर्व है। पर्व तो प्रेरणा रूप है। हमे इससे अपना जीवन सवारना चाहिये।



१०

मन की अस्थिरता : प्रलोभन का हेतु

व्यक्ति को नियत मानवीय स्तर से गिराता है प्रलोभन। प्रलोभन अर्थात् प्रकृष्ट गति का लोभ। लोभ वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत मनुष्य किसी पदार्थ को त्याग नही सकता।

विश्व, लोभ्य अर्थात् लालच करने योग्य उपादानो से भरा-पूरा है। ये उपादान प्रचुर है और नित्य नयी खोज द्वारा इनमे अधिकाधिक विकास हो रहा है। विकास को यह दिशा मिली तो चिन्तन भी उसी ओर चला और उसी मे नयी-नयी उपलब्धि पाई जा रही है।

लोभ का आधार है लोभनीय उपादानो की अवस्थिति। लोभनीय वह है जिसमे आकर्षण है, जो आकर्षक है, सुन्दर है, कलात्मक है। लोभ उसी पर तो किया जा सकता है जो लोभनीय है। इन स्तरो का आकर्पण वडा ही स्थूल है। जो लुभाता है वही डुबाता है। लुभाने का यत्न ही आखिरकार पतन की राह पर ले जाता है। यह व्यक्ति को अपने दायित्वो से विमुख करता है और उसके जीवन-व्यवहारो का सतुलन विगाड देता है।

प्रलोभ एक लालच है, एक लिप्सा है। प्रलोभन एक अविरति है। यह एक तृपा जगाता है। ऐसी तृपा जो कभी वुझती नही। लोभ अनन्त चाह जगाता है। असीम चाह की झोक मे व्यक्ति 'और 'और' के उपक्रम मे संलग्न होता चला जाता है। यह 'और' का उपक्रम सचय की वृत्ति जगाता है, कृपणता को यह अवसर देता है। कृपणता स्वार्थ को प्रश्रय देती है और स्वार्थ अनेक विकृतियो को अवसर देता है।

विकृतियो के सर्जक अनेक दुष्प्रवृत्तियो से ग्रस्त होते है। वे उन दुष्प्रवृत्तियो मे सभी को जोडने के इच्छुक होते है, प्रयत्न करते है। इन अर्थो मे वे प्रलोभक है। ये व्यक्ति का भाग्यवाद जगाकर उसे जुए आदि मे प्रवृत्त करते है।

ये व्यक्ति की कामेच्छा को जागृत कर उसे वेश्यावृत्ति तक ले जाते है, उसमे निरत कर देते है। ये व्यक्ति का शोषण करते है। सामाजिक भय और यत्नणा मे फँसकर अर्जित विवशता मे व्यक्ति इनके जाल मे फँस जाता है। आजकल ये लोग युवा वर्ग को नशीले पदार्थो और द्रव्यो की ओर मोडकर भी अपना उल्लू सीधा कर रहे है।

प्रलोभित व्यक्ति एक सम्मोहक परिधि मे पहुंच जाता है। उसके जीवन की डोरी किसी और के हाथ मे पहुँच जाती है। उसकी आत्मा उस पर से अपना नियन्त्रण खो बैठती है। जिस पर नियन्त्रण न रहे वह बेकाबू हो जाता है और जो बेकाबू है वह कई प्रकार के अनर्थ करता चला जाता है। अनर्थ एक दिन मनुष्य को इतना बीभत्स बना देते है कि मानव रूप मे उसकी पहचान खो जाती है।

प्रलोभी की लुब्धता उसे कही का नही रखती। वह एक मीठी खाज से ग्रस्त हो गया लगता है। खुजा-खुजाकर अपनी सम्पूर्ण मग्नता उसी को सौपकर निष्क्रिय हो उठता है। न कभी खाज खत्म होती है और न वह उससे मुक्त हो पाता है। यह रुग्णता और बढती जाती है। इस तरह प्रलोभी एक गर्त मे गिर जाता है।

प्रलोलुप केवल अपना ही स्वार्थ देखता है। उसका लालच उसे सकुचितता सौपता है। उसका यह सकुचन हर क्षेत्र मे व्यक्त होने लगता है। प्रलोलुप हर प्रकार की उदारता/सौहार्द पर विराम लगाता है। प्रलोलुप भ्रष्टता को खुलकर खेलने का अवसर देता है। भ्रष्टता अर्थात् अपने नियत व नैतिक मानदण्डो से पतित हो जाना है।

हमने देखा कि प्रलोभन अततोगत्वा हमे एक ऐसी स्थिति मे ला पटकता है जहाँ से उबरने का प्रयत्न भी दलदल मे और धसने के समान हो जाता है। जरूरी है कि हम प्रथम सोपान से ही सावचेत रहे। अगर हम बिना सोचे-समझे ही बढते है तो 'सम्भव है हम उस स्थिति पर पहुँच जावे जहाँ से फिर लौटना ही सम्भव नही है। हम ऐसी आग मे घिर सकते है जो निचले सोपानो पर भी फैली हो।

प्रलोभन उस सडाध के समान है जो कूडे के ढेर से उभरती है। सडन है तो क्षरण भी होगा। क्षरण है तो अस्तित्व का लोप भी निश्चय ही सम्भव है। अस्तित्व है तभी तक किसी की सार्थकता है अन्यथा एक निरर्थक बोझ ढोना है।

प्रलोभन दृढता के अभाव मे ही किसी को प्रभावित कर पाता है। दृढता है तो स्थिरता है और स्थिरता है तो दृढ बने रहने की जुगाड हो सकती है। स्थैर्य है तो बदलाव नही, बदलाव नही तो डिगना सम्भव नही, यही आवश्यक भी है। जरूरी है डिगे नही। इसके लिए प्रकम्पनो से बचना जरूरी है।

प्रकम्पन निष्ठा को प्रभावित करते है। वे स्थिरता को समाप्त करते है। कम्पन है तो अस्थिरता हे। वैसे शरीर हर क्षण कम्पित होता है परन्तु यहाँ हम शरीर की नही, मन की अस्थिरता की वात कर रहे है। मन की स्थिरता मे ही सम्भव है एकाग्रता, और एकाग्रता है तो निष्ठा जाग्रत होगी ही और निष्ठा जगेगी तो किसी भी प्रकार की भौतिक लुब्धि सम्भव नही है।

लोभ नही तो यत्रणा नही, यत्रणा नही तो विषाद नही, विकृति नही। अतत यही मुक्ति को घटित करने की स्थिति है।



धर्म और संस्कृति

धर्म और सस्कृति दो भिन्न शब्द है, किन्तु भाव एक है। धर्म एवं सस्कृति एक दूसरे के पूरक है।

धर्म, मनुष्य को धारण करने की क्षमता देता है, पात्रता प्रदान करता है। सत्य-सदाचार मैत्री-करुणा आदि सद्‌गुणो को धारण करने की पात्रता/योग्यता धर्म से ही आती है।

संस्कृति—इन सद्‌गुणो का पल्लवन/सरक्षण/सवर्धन करती है।

सद्‌गुणों को समाज के अणु-अणु मे व्याप्त होने की गति संस्कृति से मिलती है।

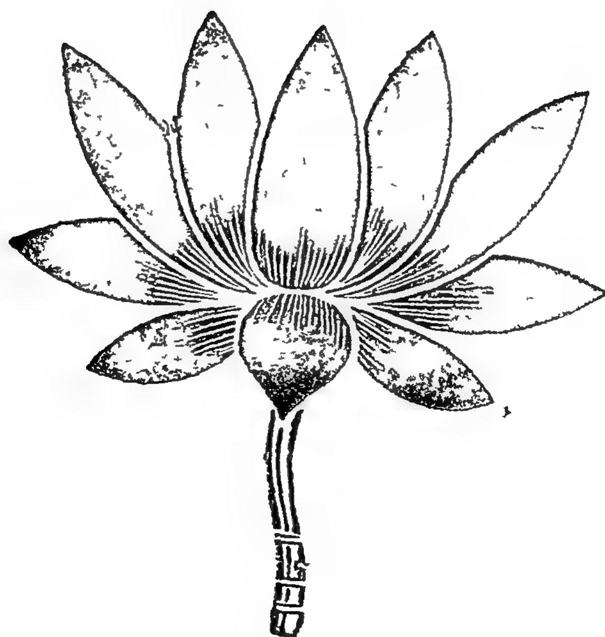
सस्कृति—सद्‌गुणो का, गुणिजनो का, सरक्षण भी करती है, उन्हे दुर्गुणो के आक्रामक प्रभाव से बचाती है।

संस्कृति विकास के लिए निर्बाध पथ प्रशस्त करती है। इस प्रकार धर्म जिन गुणो को उत्पन्न करता है, सस्कृति उनका सरक्षण/सवर्धन करती है।

□□□



समाज एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में





धर्म की धारणा आत्मा पर टिकी है।

धर्म आत्मा को धारण करता है। या आत्मा धर्म को—यह प्रश्न विकट है। घी वर्तन के आधार पर टिका है या वर्तन घी के आधार पर—इसकी परख के लिए घी से भरा वर्तन उल्टा कर देखने की जरूरत नही है।

धर्म हमारी सहज समझ है, सहज गति है, सहज वृत्ति है। आत्मा धर्म को धारण करने मे सक्षम है, और समर्थ आत्मा पर आधृत कर्म ही धर्म है।

आत्माधारित धर्म, समाज को, राष्ट्र को, समग्र मानवता को धारण करने मे समर्थ होता है।

क्रिया-काण्ड, विधि-विधान मात्र धर्म नही, यह तो कलेवर है। धर्म मानवता की धमनियो मे प्रवहमान रक्त-प्रवाह है, ऊर्जा है। धर्म का परिष्कृत/विकसित व्यवहार सस्कृति मे परिणति पाता है।

समाज, सभ्यता, सस्कृति धर्म से हटकर विकृत, विरूप-कुरूप बन जाते हैं, इसलिए धर्म का, सचेतन धर्म का, व्यवहार धर्म का नव रक्त सचार प्रतिपल-प्रतिक्षण होना रहना चाहिए।

धर्मानुप्राणित समाज, सस्कृति, सभ्यता—जीवित तो रहती है, गौरवान्वित भी। अतः हमे शुद्ध धर्म को इनमे सचरित करते रहना है।





संस्कृति का उद्देश्य

संस्कृति का सम्बन्ध मानव के साथ जुडा हुआ है। यद्यपि इस विराट विश्व मे मानव के अतिरिक्त देव-दानव, पशु-पक्षी आदि अनन्त प्राणधारी है। उन सबकी नियत वृत्ति है। प्राप्त का भोग करना, उनके जीवन का लक्ष्य है। लेकिन मानव की अपनी अनूठी विशेषता है। वह प्राप्त का भोग करने के साथ-साथ अपने विकास के चरम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करने का भी अधिकारी है। इसके लिये उसने जो सिद्धान्त निश्चित किये, आचार-विचार की प्रक्रिया स्वीकार की, चिन्तन-मनन किया, उन सभी का सामूहिक नाम है—संस्कृति। इसलिये संस्कृति का अर्थ और उद्देश्य हुआ सुख, शांति, समता एव समन्वय का सविकास करना।

अतीत मे अनेक युग बदले, अभी बदल रहे है और अनागत मे भी बदलते रहेंगे लेकिन संस्कृति के स्वरो मे परिवर्तन नही आया है और न आने वाला है। वह तो अनिकेतन अनगार की तरह अन्तर्मुखी होकर अहर्निश अपनी विशिष्ट कल्याणकारी परम्पराओ द्वारा सर्वजनसुखाय, सर्वजनहिताय सक्रिय है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग् भवेत्॥

संस्कृति का लक्ष्य है 'सत्य शिव सुन्दरम्' का प्रसार करना। वह शरीर को भी स्वस्थ देखना चाहती है और आत्मा को भी बलिष्ठ। उसकी दृष्टि मे न तो तन उपेक्षणीय है और न मन अवगणनीय। उसे व्यक्ति का उदय भी इष्ट है और समष्टि का विकास भी। इसलिये दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है—संस्कृति यानि सर्वोदय—सर्वापदामन्तकर निरत सर्वोदय तीर्थमिदम्।

जैन संस्कृति : नामकरण का कारण

रूपरेखा, उद्देश्य, लक्ष्य मे अंतर नही होने से यद्यपि संस्कृति के स्वरूप

आदि मे भेद-कल्पना नही की जा सकती है और न करनी चाहिये। फिर भी, वैदिक सस्कृति, वौद्ध-सस्कृति, प्राश्चात्य-सस्कृति आदि आदि नामकरण होने का कारण उन उनकी दार्शनिक--चिन्तन, मनन की विशेप पद्धति और उस पर आधारित आचार व्यवहार की प्रक्रिया है। यही दृष्टि जैन सस्कृति के नामकरण का आधार है। जैन सस्कृति यानि वीतरागता की सस्कृति, आत्म-पुरुपार्थ को जाग्रत करने वाली सस्कृति, पुनर्जन्म के नाश के उपायो को वताने वाली सस्कृति, लोकैपणाओ से अतीत अनाकुल आनन्द का आदर्श उपस्थित करने वाली सस्कृति।

जैन संस्कृति की विशेषता

अन्य सस्कृतियाँ जहाँ भोगप्रधान है, दैहिक जीवन मे अधिक सुख-सामग्री का भोग करना लक्ष्य है, वही जैन सस्कृति का ध्येय है निवृत्तिपरकता। इसमे त्याग पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। इसकी प्रत्येक क्रिया मे त्याग के वीज निहित हे। इसमे जो जितना त्याग करता है, उसका उतना ही ऊँचा स्थान माना जाता है। वडे-वडे सम्राटो को त्यागियो के समक्ष झुकते और गुणगान करके अपने को कृत-कृत्य समझते हुए वताया गया है, न कि किसी योगी, त्यागी को भोगी की प्रशसा आदि करते हुए।

यह कहना तो सत्य है कि जैन सस्कृति मे निवृत्ति पर सवसे अधिक जोर दिया गया है, लेकिन अनेकात दर्शन की अनुयायी होने के कारण प्रवृत्ति को भी उचित स्थान प्राप्त है। प्रवृत्ति एव निवृत्ति दोनो ही जीवन की दो विधाएँ है, जिनका उद्देश्य जीवन को पावन बनाना है। दोनो ही एक-दूसरे पर आश्रित है। प्रवृत्ति मे भी निवृत्ति के तत्व निहित है और निवृत्ति मे प्रवृत्ति के।

कोई भी समाज या व्यक्ति एक मात्र प्रवृत्ति की भूल-भुलैयो पर जीवित रहकर वास्तविक निवृत्ति नही साध सकता है। यदि वह किसी तरह की निवृत्ति को न माने और प्रवृत्ति चक्र का ही महत्व समझे तो यह निश्चित है कि वह सस्कृति के सामान्य धरातल का भी स्पर्श न कर सकेगा। यही स्थिति प्रवृत्ति का आश्रय लिये विना निवृत्ति के निराधार आकाश मे रहने वाले की होगी। दोप, बुराई, गलती से तव तक कोई नही वच सकता, जव तक वह दोप-निवृत्ति के साथ-साथ सद्गुणो और कल्याणमय प्रवृत्ति की ओर अग्रसर न हो। रोगी को स्वस्थ होने के लिये कुपथ्य-त्याग के साथ पथ्य सेवन करना भी आवश्यक है।

जैन संस्कृति के दो रूप

दूसरी सस्कृतियो की तरह जैन सस्कृति के दो रूप है—एक वाह्य और दूसरा आतर। वाह्य रूप वह है जिसको उस सस्कृति के अनुयायियो के अतिरिक्त दूसरे लोग भी आख, कान आदि वाह्य इन्द्रियो से जान सकें। लेकिन सस्कृति का

आन्तर रूप ऐसा नही होता है। आन्तर रूप अनुभूतिगम्य है। उसका साक्षात् दर्शन, आकलन तो वही कर सकता है जो उसे जीवन मे तन्मय कर ले, आत्मसात् कर ले।

जैन सस्कृति के वाह्य रूप मे उन अनेक वस्तुओ का समावेश होता है, जो प्रगट है और जिनके लिये व्यक्ति की कायिक और वाचनिक प्रवृत्ति भी होती है। जैसे कि खान-पान, उत्सव-त्यौहार, भापा-प्रयोग, दैनिक जीवन मे काम आने वाले उपकरण, उपासना विधि आदि। इनका आन्तर रूप के साथ सम्वन्ध होता है और अनुयायी वर्ग उस प्रवृत्ति को करके अपनी निष्ठा भी व्यक्त करता है। लेकिन यह कोई एकातिक नियम नही है कि जहाँ और जन वाह्य अग हो वहाँ और तन आन्तर रूप होना ही चाहिये। क्योकि आन्तर रूप इतना व्यापक है कि किसी एक दो वाह्य अगो से उसकी यथार्थता का अनुमान नही लगाया जा सकता है।

इस स्थिति मे प्रश्न यह है कि जैन सस्कृति का आन्तर रूप क्या है? इसका ऊपर उत्तर दिया जा चुका है कि निवृत्ति-निवर्तक धर्म जैन-सस्कृति की आत्मा ह। निवृत्ति के सामान्य अर्थ का भी सकेत किया है—त्याग। लेकिन त्याग शव्द मे भी एक रहस्य गर्भित है कि सुख जीव मात्र का स्वभाव है और वर्तमान जीवन मे जो सुख प्राप्त हो रहा है, वह क्षणिक एव पराश्रित है। अत वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए लौकिक पदार्थो के प्रति मूर्च्छाभाव का त्याग करना एव आत्मज्ञानमूलक अनासक्त भाव की क्रमश वृद्धि करके निराकारता मे रमण करना अर्थात् पुन पुन जन्म और देह धारण न करना पडे।

जैन सस्कृति के सिद्धान्त

जैनसस्कृति के उक्त आन्तर रूप—त्याग, निवृत्ति को ध्यान मे रखकर अनादि काल से अनेकानेक साधको ने चिन्तन, मनन एव आचरण द्वारा आचार और विचार के क्षेत्र मे अन्वेपण करके जो सिद्धान्त निश्चित किये, उनमे त्याग, प्रत्याख्यान की स्पप्ट छाप परिलक्षित होती है। यदि गणना की जाय तो उनकी सख्या काफी वडी होगी और दृष्टिकोणो की विभिन्नताओ से नानारूपता दिखेगी। लेकिन सामान्य रूप मे सरलता से समझने के लिए जैन सस्कृति के मुख्य रूप मे चार सिद्धान्त है—अहिसा, अपरिग्रह, अनेकात, आत्मा और कर्म का अस्तित्व।

सामान्यतया अहिसा का अर्थ है—न हिसा अहिसा, यानि हिसा न करना, और प्रमाद व कपाय के वशीभूत होकर किसी भी प्राणी के प्राणो का हनन करना हिसा है। अत अहिसा की स्पप्ट व्याख्या यह हुई कि प्रमाद एव कपाय के वश स्व और पर के प्राणो का घात न करना, वियोग न करना, किन्तु रक्षा करना। प्राणो का वियोग सिर्फ शारीरिक और वाचिक प्रवृत्ति द्वारा ही नही किन्तु वैर,

घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, दभ, लोभ, लालच आदि मानसिक विकृतियो द्वारा भी होता है। इन सब विकृतियो से निवृत्त होने का नाम अहिंसा है । यद्यपि अहिंसा मे त्याग का आशय गर्भित है लेकिन अपने प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण के द्वारा विश्व के समग्र चैतन्य को समानता के धरातल पर ला खडी करती है । समग्र जीवधारियो मे एकता देखती है, समानता पाती है, उन्हे जीवन जीने और सुख प्राप्ति की कला सिखाती है ।

प्रत्येक युग मे आधिपत्य और आर्थिक एकाधिकार की प्रवृत्ति ने हिंसा को जन्म दिया है, अभाव, असमानता एव असन्तोष की अग्नि सुलगाई है । इसका एक मात्र कारण परिग्रह है । परिग्रह का अर्थ है—प्राप्त वस्तु पर स्वामित्व स्थापित करने के अतिरिक्त अप्राप्त अनुपयोगी वस्तुओ पर भी मूर्च्छा भाव रखना । उनको अपना मान लेना । लेकिन विश्व के सम्पूर्ण भोगोपभोग के साधन, धन, सम्पत्ति, वैभव पर न तो किसी का अधिकार हुआ है न होने वाला है और मान लो कि अधिकार हो भी जाये तो उपभोग करना सम्भव नही है । क्योकि दैहिक जीवन काल परिमित है और वैभव आदि अपरिमित । इसलिये इस स्थिति का निराकरण करने का उपाय यही है कि अपरिग्रह वृत्ति अगीकार की जाये । परिग्रह की कारा का परित्याग करके अपरिग्रह के अनन्त आकाश मे विहार किया जाये । जिसका परिणाम होगा कि विश्व की समस्त सम्पत्तियाँ स्वयमेव पाद-प्रक्षालन के लिये प्रतीक्षारत रहेगी—बिना माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख ।

इस सारी स्थिति को समझकर ही जैन सस्कृति के सिद्धान्तो मे अपरिग्रह की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है कि मानव-समाज मे धन, सम्पत्ति, वैभव का प्राधान्य न हो जाये । जीवन का केन्द्र चक्र केवल धन के पीछे न घूमने लगे और मानवता की रक्षा एव कल्याणकारी कार्यो की गति न रुक जाये । मानव अपनी पारमार्थिकता को समझे और तृष्णा के जाल से दूर रह सके ।

विश्वव्यापी सघर्षो और सग्रह वृत्ति के कारण पर-पदार्थ नही है किन्तु वैयक्तिक दृष्टि है, दुराग्रह—कदाग्रह है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यक्ति ने अपने एकागिक दृष्टिकोण से मूल्याकन करके लोमहर्षक युद्धो मे अपनी लिप्सा की पूर्ति की । फिर भी शान्ति नही हुई । दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप, गुण धर्मो का निर्णय एक निश्चित दृष्टि से नही किया जा सकना है । यदि उसके पूर्ण रूप को समझना है तो भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओ से विचारना, देखना, परखना होगा । इसीलिए जैन सस्कृति ने एकागिक दृष्टियो का निराकरण करने, विविध और परस्पर मे विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओ का समन्वय करने, सत्य की शोध करने, सक्लेश को मिटाने और चिन्तन के विभिन्न आयामो व

सिद्धान्तो को मुक्ता-माला के समान एक सूत्र मे अनुस्यूत करने के लिए अनेकात, स्याद्‌वाद को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार करके घोषित किया है—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

जैन सस्कृति किसी अलौकिक ब्रह्मलोक से आये हुए या रहने वाले ईश्वर को विश्व के कर्ता, हर्ता और धर्ता के रूप मे न मानकर ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणो से युक्त, स्वतन्त्र मौलिक तत्व आत्मा को कर्ता और भोक्ता मानती है। वह स्वयकृत कर्मो के कारण ही सुख दु ख की अनुभूति करती है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य

जैनो द्वारा मान्य आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व एव कर्मसिद्धान्त अन्य दार्शनिको के अतिरिक्त से भिन्न है। भूत-चैतन्यवादियो के अतिरिक्त शेष दार्शनिको ने आत्मा के अस्तित्व को मानकर भी आत्मिक भावो और क्रियाओ को ही कर्म कहा है। जब कि जैनो ने भावो एव क्रियाओ तथा उनके निमित्त से आत्मा के साथ सम्बद्ध होने वाले पौद्‌गलिक द्रव्य को भी कर्म माना है। यह सश्लिष्ट द्रव्य आत्मा के विकास मे बाधा डालता है और ससार मे भ्रमण कराता है। लेकिन कर्मबन्ध नष्ट होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है, पुन ससार मे भ्रमण नही करती है।

यह आत्मा व कर्मवाद का सिद्धान्त मानव को ईश्वर-कर्तृत्व एव ईश्वर-प्रेरणा जैसे अध-विश्वास, अध-श्रद्धा से मुक्त करता है और आत्मा की स्वतन्त्रता का, स्व-पुरुषार्थ का ध्यान दिलाता हुआ इस रहस्य को प्रकट करता है कि प्रत्येक आत्मा मे नर से नारायण बनने, अपने चरम लक्ष्य परमात्म-पद को प्राप्त करने की असीम शक्ति निहित है।

जैन संस्कृति का प्रभाव

जैन सस्कृति के पूर्वोक्त सिद्धात अनादि काल से जैन परम्परा मे मान्य है और पूजे जाते है। तीर्थकरो ने उपदेश द्वारा ही नही, आचरण द्वारा भी इन सिद्धान्तो को ओजस्वी रूप दिया है तथा उत्तरवर्ती काल मे श्रमण और श्रावक वर्ग भी इन आदर्शो को उत्प्राणित करने का प्रयत्न करते रहे हैं और कर रहे है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक कठिनाइयो के बीच भी उन्होने अहिंसा, संयम, तप, त्याग आदि आदर्शो के हृदय को सभालने का प्रयत्न किया है और जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मन्त्री, व्यापारी आदि गृहस्थो ने अपने-अपने ढग से प्रचार किया है।

इसका परिणाम यह हुआ कि सिद्धान्तत सर्वभूत-दया को सभी के मानने पर भी जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगो का किसी न किसी प्रकार का प्रभाव रहा, सर्वत्र साधारण जनता मे प्राणि-रक्षा के संस्कार अत्यधिक प्रबल रहे है। उनके आचार-विचार स्वय की प्राचीन परम्पराओ एवं सास्कृतिक सिद्धान्तो से बिलकुल पृथक हो गये। तपस्या के बारे मे भी यही हुआ कि जैन तपस्या की देखा-देखी उन्होने एक या दूसरे रूप मे अनेकविध सात्विक तपस्याये अपनाई। जन्मजात मासभक्षी और मद्यपायी जातियो ने कुव्यसनो के रोकने मे सहायता दी और वे स्वय भी खुले आम मद्य-मास का उपयोग करने मे सकुचाती है, शिष्टता, सभ्यता के विपरीत समझती है। अनेकात एव कर्मसिद्धान्त की चर्चा का परिणाम यह हुआ कि कट्टर से कट्टर विरोधी सप्रदायो और दार्शनिको ने अपने सिद्धान्त के विवेचन एव लोक व्यवस्था व्यवहार की यथार्थता को स्पष्ट करने के लिए इनको स्वीकार किया है, प्रेरणा ली है।

वर्तमान युग और जैन वर्ग का कर्त्तव्य

जैन सस्कृति का उद्देश्य मानवता की भलाई है और उसके सिद्धान्तो मे मानवीय भावनाओ का समावेश है। लेकिन कोई भी सस्कृति केवल अपने इतिहास एव यशोगाथाओ के सहारे ही जीवित नही रह सकती हे, न प्रशसनीय हो सकती है, और न प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है जब तक उसका अनुयायी वर्ग तदनुकूल प्रवृत्ति करके प्राणिमात्र के योगक्षेम की ओर अग्रसर नही होता है। अत हम जैनो का कर्तव्य है कि बाह्य रूप के विकास द्वारा ही जैन सस्कृति के सुरक्षित होने के भ्रम को त्याग कर अतीत काल की तरह वर्तमान मे भी उसके हृदय की रक्षा का प्रयत्न करे, जीवन-वृत्ति का अग बनाये। व्यक्ति व समाज का धारण, पोषण और विकास करने वाली प्रवृत्तियो को स्वीकार करने एव विकृत धारणाओ, कार्यो का त्याग करने मे ही जैनत्व का गौरव गर्भित है।



२

बीज, बिरवा, शाखा-प्रशाखाएँ और परस्पर सौहार्द

सर्वप्रथम होता है बीज । फिर उगता है बिरवा और फिर पौधा और उसी क्रम मे वृक्ष हो जाता है । नई-नई कोपले फूटती है, नई शाखाएँ अस्तित्व मे आती है और इस तरह एक सघन वृक्ष अस्तित्व मे आ जाता है ।

कमोवेश यही तथ्य सब अस्तित्वधारको मे देखा जाता है । जाति और धर्म भी इससे अछूते नही । उनमे भी विकास के चिन्ह पाये जाते है । अब यदि हम कहे कि इतनी शाखा—प्रशाखाओ से भला क्या होना जाना है । ये तो विभेद ही रचेगी और तनाव की सर्जना होगी ।

पर उस स्थिति को लाना कि भेद न रहे, एक रूप हो, उसके लिए तो विध्वस ही रास्ता है यानि शाखा-प्रशाखाओ को काटकर फेक दिया जाये, बस एक खूंट ही रह जाए, एक ठूंठ ही रह जाए। पर ऐसा अब सभव नही है । अपने अस्तित्व को बनाये रखने की उत्सुकता सभी मे है, कोई भी अपनी पहचान खोना नही चाहता ।

तो चलिए यही सही । आप भी बने रहे, हम भी रहे । आप भी फले-फूले, हम भी फले-फूले । पर यह सब इतना सहज कहाँ है । आदमी हदो से भी आगे जाता है । वह अपने ही बने रहने की सोचता है – आदमी अपने अस्तित्व के लिए हर शर्त स्वीकारता है, हर रास्ता अपनाता है । आदमी को चाहे उसके लिए अन्य को आघात ही क्यो न पहुँचाना पडे ।

"सर्वाईवल ऑफ द फिटेस्ट" डारविन ने यह सिद्धान्त दिया है । आदमी अपने बूते पर ही अस्तित्व मे रहता है, यह इस सिद्धान्त की मान्यता है । आदमी के बूते, बल या क्षमता की दृष्टि से यह बात गले उतरने की स्थिति मे आदमी का आत्मबल, आत्म-विश्वास कायम रहे, आत्म-ज्योति जगे यही इसमे निहित

है। आदमी अपनी अनन्य सभावनाओ को उपयोग मे ला सके, यही इसका हार्द है।

परन्तु आज स्थिति भिन्न है। आज तिकडम बाजी मार लेती है। आदमी की सक्षमता ताक पर धरी रह जाती है। वाचालता, कुटिलता जीतती है। आदमी आज बहुत अधिक कपटपूर्ण हो गया है। चलतापुर्जापन जीवत है। आदमी अपने अतिरिक्त कुछ नही देखता है। अपनी कार्य सिद्धि उसे प्रिय है।

आज वैमनस्य की बन आई है। प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिशोध क्रमशः है। आदमी अपने अतिरिक्त सबको व्यर्थ समझता है। उन्हे मिटा देने को उत्सुक है। आदमी मे ओछापन, घिनौनापन प्रवेश पा गया है।

वस्तुत यह युग-दोष ही है। व्यक्ति के बस की बात नही। आदमी चाह कर भी उससे बच नही पाता है। उससे उबर नही पाता है। आदमी को इस यत्रणा, विवशता से बचना ही है। उसे इससे उबारना ही है।

वैचारिक उज्ज्वलता के बल पर स्थिति से जूझा जा सकता है। आदमी के सुविचार वातावरण को निर्मलता सौपते है, कुविचार दूषण लाते हैं। आदमी की हर सोच का कुछ न कुछ परिणाम अवश्यमेव आता ही है। आदमी की इच्छा-अनिच्छा की बात बेमानी है, इच्छा-अनिच्छा से उसका नियन्त्रण हटना मतलब वह अपने से नियन्त्रण खो चुका है।

अनियन्त्रित अवधारणाओ वाले लोग ही विभेद को गहराते है और द्वेष, प्रतिद्वद्विता तथा तनाव को बढाते है। अपनी सीमा मे रहकर भी औरो की सोच, समझ व धारणाओ को आदर देना बडी बात है। बात बड़ी है पर असम्भव नही। बात मुश्किल है पर प्रयास हर मुश्किल को सुलझा देते है।

इसमे भला मुश्किल क्या है? क्या आडे आता है? किसी के प्रति योग्य दृष्टिकोण रखने मे किसी का अपनी जेब से क्या जाता है? और जब अपना कुछ नही जाता है तो उसे उदारतापूर्वक देने मे क्या हर्ज है? देने को केवल अपनापन होता है और बटोरने को खुशियाँ, सन्तोष, सुख सभी कुछ तो होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही तो कहा है—'जो हम देते है स्वर्ण हो जाता है, जो हम रख लेते है वह राख हो जाता है।'

अपने मन मे कुछ रखना और उसे वही पलते रहने देना एक सडन, एक गदलेपन की स्थिति ला देता है। तब हमे जो भी सूझता है उसमे होती है एक असहजता। हमारी अहमन्यता हमे जरा भी औदार्य नही सौपती। औदार्य नही है तो अपनत्व नही है। अपनत्व नही है तो सहजता नही है। और सहजता नही है तो अनेक विभेद जन्म लेते है। आरोप-प्रत्यारोप अवसर पाते है। और उस स्थिति मे मिलन सभव नही है।

जाने दीजिए मिलन की वात। एक रूप हो जाने की वात अब व्यावहारिक नही लगती परन्तु एकसम तो हुआ जा सकता है। एक सी सवेदना रखना तो सभव है। हुआ करें अपने-अपने कर्मकाण्ड, हुआ करे अपनी-अपनी समाचारी, हुआ करे अपने-अपने पृथक तौर-तरीके। मगर उन सबके रहते हुए भी मनुजता के स्तर पर तो एक हुआ जा सकता है। पारस्परिकता, सौमनस्य, सौहार्द आदि तो लाया जा सकता है।

जैन समाज मे भी काफी विभेद प्रकट हुए है। और इन विभेदो ने कई जटिलताएँ पैदा कर दी है। इन जटिलताओ के कारण जो वक्त वेवक्त विवाद होते हैं उससे समाज की छवि विगडती है। भीतर ही भीतर कुछ विचार-भेद हो सकते है पर इनके वावजूद भी मतभेद न रहे तो श्रेयस्कर है।

विगत समय मे ऐसे प्रयास हुए है, सुपरिणाम भी आये हैं पर फिर भी कुछ लोगो की, कुछ सन्तो की कट्टरता से स्थिति डगमगा जाती है। जैन दर्शन निस्सदेह अनुपम है, मानवीय है, कल्याणकारी है। इसे कल्याण कार्य के लिए ही प्रयुक्त किया जाय, यह आवश्यक है।

युग मे अनेकानेक विपमताओ के वावजूद औदार्य का भी समावेश है तो फिर हम ही आवेश मे क्यो पडे रहे? हम भी क्यो न अपनी समूची उज्ज्वलताओ के साथ कल्याणकारी कृतियो से जुडें? अपने सारे विभेद त्याग दे? परस्पर स्नेह भाव, भ्रातृत्व रखें। और इसमे केवल जैन समाज ही क्यूँ मानव मात्र को दृष्टि मे रखें तो मानव-कल्याण की दृष्टि से वह वहुत ही श्रेष्ठ बात होगी।



३
जिन्दगी : आईने के रूबरू

हाथ पर हाथ धरे लोग बैठे है और मानवता के प्रति अपनी चिल्लाहट बरकरार रखते हुए अपनी सवेदना व्यक्त कर रहे है। जब सच्ची मानवता की बुलाहट होती है तो ये ही तमाशबीन बन जाते है। ऐसे मानवतावादियो पर तरस आता है।

व्यक्ति, व्यक्ति मे अपरिचय विद्यमान है। जिसे वह जानता है उसी के प्रति प्रति अनभिज्ञ है और इसी कारण वह तनाव घडता है। यदि उसमे सही पारस्परिकता है, सही समझ है तो फिर यह ईर्ष्या, वैमनस्य क्यो है ? अपरिचय के ये ढ्‌ह आखिर ढहते क्यो नही ? क्यो है व्यक्ति, व्यक्ति मे इतनी दूरी, इतना परायापन ?

व्यक्ति अपने स्वार्थ के कारण वह केवल अपनी बढत, अपनी पहुच, अपनी उठान ही देखना चाहता है। और यह उठान उसे उस ऊँचाई पर पहुचा देती है वहाँ उसे अपने अतिरिक्त सभी बौने लगते हे। वह अपने ही वैराट्य के डके पीटता है। अपनी उच्चता, अपनी श्रेष्ठता मे निमग्न व्यक्ति आज अपने से ही पृथक हो गया है।

व्यक्ति की पारस्परिकता आज महज सौदेबाजी है, व्यापार है, तिजारत है। वह अपने लाभालाभ को अधिक महत्व देता है। जहाँ उसका लाभ नही, वहाँ निर्ममता है। बडी निर्ममता से वह अपने सम्पर्क तोड देता है। जहाँ उसे लाभ नजर आता है, वहाँ वह अपने को अत्यधिक घिनौना बनाने मे भी नही चूकता। वह भ्रष्ट आचरण मे निमग्न हो जाता है।

व्यक्ति की इस दयनीयता की समझ किसी को भी नही है, ऐसा नही कहा जा सकता। कई हे जो स्थिति की समझ रखते हे पर वे जाने क्यो हाथ पर हाथ रखे चुप बैठ गए है। एक बेपरवाही ही उन्होने पल्ले बांध ली है। 'हमे इससे क्या' यह भावना ही उन्हे दुलारती है। वे अपनी अस्मिता खो चुके हे। वे अपने शौर्य को ताक पर रखकर अपने दौर्बल्य की कारा मे बैठे स्वय को कोसते हुए जीवन को यू ही व्यतीत कर रहे है।

हम परस्पर इतने पराएपन के बावजूद कही न कही सलग्न है। एक जुडाव अब भी विद्यमान है। पर इस जुडाव मे कृत्रिमता है। कही कुछ दरक गया है, यह साफ-साफ दिखता है। एक टूटन को लेकर ही हम जुडे हुए है। यह टूटन हमे अपनी समग्रता से वचित रखती है। हमारी जुडन तब एक ढकोसला बन जाती है।

जीवन हमारे लिए दूभर है। हम बोझिल अवस्था मे वक्त को काट रहे है। थकान से हम ग्रस्त है फिर भी चलना हमारी नियति है। हम यदि चले नही तो क्या करे ? अपने पाँव नही चलेगे तो समय के पाँव से चलना तो पडेगा ही। फिर चाहे वह घिसटना ही क्यो न हो। चलते-चलते हम पस्त हो गए हैं। सोचते है अगले क्षण हम बैठ जाएँगे, चलना छोड देंगे। पर उसका अर्थ होगा जीवन का अन्त। जीवन की यह परिणति हम मे दहशत उपजाती है। घिसटकर ही सही, हम चलते है। अपना बोझ लेकर, पस्त होकर भी हम चलते है।

हर पल भारी है। एक पल मे ही हमारा मन सदियाँ लाँघ जाता है। हम इस प्रकार किसी भी पल को सार्थक नही कर पाते। पल-पल हमे भारी लगने लगता है। पल-पल हम बुझते हैं। कोई भी प्रेरणा हमे ज्योति से सलग्न नही कर पाती। पलो मे हम दूषण भर देते है। पल-पल तिल-तिलकर हम मिट रहे है। मनुष्य है पर मानवता मिट रही है। मानवताविहीन व्यक्ति तो ककाल है। जहाँ रक्त नही, मज्जा नही, वहाँ केवल ठठरी है।

हम सकुचित दायरो मे सिमट रहे है। एक ही परिधि मे भटक रहे है हम। और यह दायरा बडा ही सिमटा हुआ है। घुटन से भरकर हम साँस-साँस व्यथा झेल रहे है। हमारी व्यथा हमे अथाह पीडा सौंप हमे भीतर ही भीतर तोड रही है। एक टूटे हुए खण्डहरी मनोभाव को लिए हम जी रहे है।

हमारी प्रगति, हमारा विकास, हमारी बढत कितनी थोथी है। हम सोचते है हम कई बिन्दुओ को पार कर आगे आ गये है पर गौर से देखे तो लगता है हम प्रारम्भ बिन्दु के सन्निकट ही कही है।

ये सब मनोभाव मै व्यक्त, अव्यक्त रूप मे उन सभी मे पाता हूँ जो यहाँ आते है और कुछ क्षण बिताकर चले जाते है। आदमी की इस नियति पर मन मे पीडा होती है। प्रयत्नपूर्वक उन्हे समझाते है पर बात इतनी आगे तक बढ गयी है कि अब प्रयत्न हारने लगता है। फिर भी हमारा प्रयास कायम है। मै आशान्वित हूँ —मनुज की मनुजता लौटेगी और उसे वास्तविक स्वरूप मे ढाल देगी। आशा है तो लक्ष्य-प्राप्ति भी सभव है।



४

त्याग का दर्शन, प्रदर्शन नहीं

त्याग के स्तम्भो पर निर्मित जैन परम्परा का आलय आज कई तरह के परिग्रहो, प्रमादो तथा प्रदर्शनो से परिपूर्ण हो गया है। एक ही आलय पर इतने आघात तथा बोझ उसे जर्जर न करदे।

त्याग की आधारशिला पर अवस्थित जैन परम्परा का मूर्त रूप जैन समाज आज घोर दिखावो, स्वार्थो तथा अभिलाषाओ को अपना चुका है।

जैन समाज के सभी वर्ग, उपवर्ग, सम्प्रदाय इस प्रकार के दूषण से ग्रस्त हो गये है। भ महावीर की त्यागमयी परम्परा का पूर्ण स्वरूप ही आज बदल चुका है। यही क्रम चलता रहा तो या तो हमे भ महावीर के कथनो की व्याख्या ही बदल देनी पडेगी या उनके नाम का अवलम्ब त्याग देना पडेगा।

स्थानकवासी परम्परा मे तो किसी प्रदर्शन या समारम्भ का अवकाश ही नही था। उसमे तो त्याग ही प्रमुख रहा या आत्म-साधना को ही मुख्यता दी गई। इसमे विशुद्धि, पाक-पवित्रता या निर्माल्य को अक्षुण्ण रखने का पूरा-पूरा अवसर मिला था।

देखा-देखी, अपने को अन्यो से श्रेष्ठ बताने या अन्यो के द्वारा उकसाये जाने पर गलत दिशा को ग्रहण कर लेना या हम भी क्या किसी से कम हैं, ऐसी भावना ने कई आडम्बर, विग्रह या वैमनस्य को भी पनपने का अवसर दे दिया।

चहुँ ओर आज दिख पडती है धूमधाम, धमाचौकडी और बाजे-गाजे। जो हैं उसे सर्व ओर, सर्वरूपेण गुँजा देने की प्रवृत्ति ही आज प्रमुख हो गई है। हर क्रिया, हर आयोजन मे अपनी ओर से दिए योगदान द्वारा अपनी उच्चता का प्रदर्शन ही मुख्य हो गया है। उच्चता या श्रेष्ठता की इस झोक मे ऐसे अवसरो की तलाश होने लगी कि जिनके आधार पर नये अवसर घडे जाकर अपनी मनोकामनापूर्ण की जा सके। केवल श्रावक वर्ग ही इसमे लिप्त हो यह बात नही, साधु वर्ग भी इसी प्रकार की प्रेरणा देने अथवा अवसर खडे करने मे सलग्न है।

त्याग की शुभ्र परम्परा पर इन्द्रधनुषी मुखौटे चढाने का यह क्रम हमे न जाने किस अन्धेरी धारा मे धकेल रहा है। तब हमारा कोई नाम लेवा भी न होगा। वक्त रहते ही यदि हम इस स्थिति से नही उबरे तो एक स्थायी तथा कालजयी परम्परा की सक्षमता लिए हुए जैन धर्म का भी बटाढार हो जाये तो कोई आश्चर्य नही होगा।

प्रदर्शन किसी भी स्तर पर प्रदर्शन ही है। प्रदर्शन किसी भी क्षेत्र मे प्रदर्शन ही है। इसमे त्याग का दर्शन खोजना धूल मे लट्ठ मारने के समान बेमानी है। देखने मे आता है कि किसी के गुण-कथन मे इतना वक्त जाया कर दिया जाता है कि त्याग पीछे रह जाता है। पताकाएँ उनके हाथ मे है जो प्रदर्शन-प्रिय है और आत्मा की दिव्यता के अवधारक कही पीछे, बहुत पीछे ही रह गये है।

आज की युवा बुद्धि बडी कडी परीक्षा लेती है। उसके पास हर क्रिया के लिए सैकडो प्रश्न है। वह यथावत् सब कुछ मान लेने मे जरा भी विश्वास नही करती। पूरी परख और पूरे आगे-पीछे से ही वह किसी तथ्य को अपनाती है। उसे प्रदर्शन के प्रदूषण से भ्रमित कर देने से एक गलत दिशा मे धकेल दिया है और आज वे ही सच मानने लगे हैं जो वास्तविक सच नही है। प्रश्न उठ सकता है कि जब वे बुद्धिसम्पन्न है तो अपने विवेक का उपयोग क्यो नही करते हैं? जवाब है कि आजकल सब कुछ रेडीमेड प्राप्त करने की वृत्ति जोरो पर है। एक आलस्य, एक अवहेलना भाव सर्वत्र व्याप्त है। ऐसे मे अपने विवेक के उपयोग की बात करना व्यर्थ है।

आडम्बरो के कई सन्निवेश गणवेश धारण कर धर्म के पथ पर चलते हुए हम देखते अघाते नही। मै कुछ सकेत दे रहा हूँ जो मेरेपन को व्यथित करते हैं। कोई भी दीक्षा होती है तब क्या कुछ होने लगा है, जरा उस पर ही नजर डालिए। दीक्षा तो त्याग का ही एक उपादान है पर यहाँ घुस आये अनुग्रह, परिग्रह पर भी तो नजर डालिए जरा। वैरागी की मुखवस्त्रिका की बोली, कपडे पहनने की बोली, घोडी पर चढने की बोली, हाथी पर आरूढ होने की बोली, भोजन करने की बोली। इस प्रकार से पैसा एकत्र कर कई तरह के आरम्भ-समारम्भ करना क्या इस त्याग वेला को किन्ही और अर्थो से विभूषित नही करते? एक छोटे से दृष्टान्त से मै यह बात थोडी साफ करूँगा—

एक नेता को एक समारोह मे बुलाया गया। नेता जरा सिद्धान्तवादी थे। अन्य नेताओ से थोड़े अलग-थलग। वे आये तो एक कार्यकर्त्ता जो अन्य कार्यकर्त्ताओ का नेतृत्व कर रहे थे, खूब जोशो-खरोश से नारे लगवा रहे थे। नेता ने उन्हे टोका और नारेबाजी के प्रति अपनी अरुचि दिखलाई। नेतृत्वकर्त्ता कार्य-

कर्त्ता ने नेता का आदेश सर माथे लिया और जोर-जोर से चीखने लगे—नारेबाजी और लोग बोले—बन्द करो।

मतलब यह कि मनुष्य जो प्रवृत्ति धारण कर लेता है उसे फिर छोड पाना मुश्किल है। कभी किसी क्षण प्रमादवश हो गया हुआ एक जरा-सा प्रदर्शन आज कितनी अधिक प्रमुखता पा गया है, इस पर जरा विचार करना होगा।

ऊपर मैने दीक्षा सदर्भ मे घुस आये इस अनिच्छित का जिक्र किया है पर दिवगति जैसे अवसर को भी इस वृत्ति से ग्रस्त करने की नियोजना भी तो हो चुकी है।

जब भी कोई जैन सत दिवगत होता है तो उनको आग देने की, डोली उठाने की, वस्त्र धारण करवाने की बोलियाँ लगने लगती है। लगता है अब धर्म आत्म-साधना न होकर बाजार की वस्तु बन गया है। जिसने भी बढ-चढकर सौदा किया वह उसे अपने तावे मे ले लेता है और जो पूरे आत्मौपम्य से युक्त रहते हुए भी भौतिक उपलब्धियो से युक्त नही है उसे मन मसोसकर रह जाना पडता है।

बडे-बडे सम्मेलन होते है, अधिवेशन होते है। उनकी अध्यक्षता, प्रमुख अतिथि व सगठनो के पद हथियाने मे काफी समय निकल जाता है। योग्य निर्णय, योग्य दिशा तथा योग्य सोच धरी ही रह जाती है। किसी भी क्रिया के पूर्व सोच-विचार का महत्व है पर जब सोच-विचार मे ही बदलाव आ गया है तो क्रिया मे परिवर्तन आना अनिवार्य हो जाता है। अत समाज के सोच-विचार मे ही शुद्धता आवे, यही मुझे तो आवश्यक लगता है। मै इस आवश्यकता को आवश्यक आवश्यकता की श्रेणी मे रखते हुए अनुरोध करता हूँ कि आडम्बरो का परित्याग कर विशुद्धता को अपनावे।



५

शुभ के प्रति विश्वास जगायें

गगन क्षुब्ध है, दिशाए रो रही है। यह क्या हो रहा है पजाव मे ? कुछ व्यक्तियो की वुद्धि को पाला मार गया है। वे अनेक व्यक्तियो को परेशान कर रहे है। वात परेशानी तक सीमित रहती तो और वात थी पर वहाँ हो रही नित्य हिंसा ने तो सभी को स्तव्ध कर दिया है।

भापा के नाम पर हुए प्रातो के विभाजन ने व्यक्तियो मे एक अजीव-सी कट्टरता भर दी है। आज व्यक्ति पजावी है, महाराष्ट्रियन है, तमिल है, विहारी है, असमी है पर हिन्दुस्तानी नही। शायद उस समय चुप्पी स्थापित हो जाय जव देश का वडा नेता अपने सामने खडी भीड से पूछे कि आप मे से भारतीय कौन है।

सिरफिरे आतकवादियो के पागल कृत्य का अन्य व्यक्ति भी मौन समर्थन कर रहे है क्योकि उन्होने एक नारा दिया है—खालिस्तान का। इस नारे की आड मे वाहरी तत्व और अन्दरूनी तस्कर आदि एक अराजक स्थिति लाना चाहते है। सब अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि मे सलग्न है।

आतक का यह आलम है कि रात तो रात दिन को भी वहाँ निकलना मुहाल हो गया है। वडी तादाद मे पलायन हो रहा है। पग-पग हत्या का साम्राज्य है। यमलोक भी सकते मे आ गया है ऐसी थोकवन्द मौतो से।

खून और सर्वत्र खून वह रहा है। न इससे जिस्म नापाक होता है, न वस्त्र गदले। हिंसा के इस चरम मे क्या अहिंसा की प्रतिस्थापना सभव है ? इस पर गम्भीरता से विचार करने का वक्त आ गया है।

धर्म प्रचार को अव एक मोड लेना होगा। वहाँ किसी धर्म विशेप की वात व्यर्थ है। वहाँ धर्म प्रचारक केवल पारस्परिकता की वात करे, शुभ के प्रति विश्वास जगावे व अकरणीय के प्रति हेय भाव पैदा करे।

वहाँ अभी साधुओ के शुभ्र या गेरुए वस्त्रो की जरूरत नही है वहाँ जो प्रमाद व्याप्त है उसे रग का वोध नही आत्म-बोध चाहिए। एक सबल शान्ति सेना का गठन होना चाहिए जो जन-जन को जाग्रत करे व सभव हो सके तो आतकवादियो को भी अपने वावत सोचने के लिए विवश करे।

राजनीति ने अन्य भाव पैदा कर दिया है। कोई किसी का विश्वासु नही रहा। कल जो अपना लगता था, उससे अगले कल वही पराया लगने लगता है। राजनीति की कौड़ियाँ ही विठायी जा रही है और सघर्ष को लम्वाया जा रहा है।

ईट का जवाव पत्थर से देना, यह अहिंसा का सिद्धान्त नही है। और अहिंसा कायरो या मतलवपरस्तो के हाथ से लागू हो यह भी घातक है। अहिंसा कारगर हथियार है पर उसे व्यवहार मे लाने वाला व्यक्ति या समूह निष्पक्ष व समर्पण भाव लिए हुए होना चाहिए।

जरूरी यह है कि मनुष्य अपनी आत्मा को पहचाने। आत्मा की पहचान ऐसे आलम मे साधुओ की उपदेश भाषा से उतनी सम्भव नही जितनी हर शुभ को चाहने वाला व्यक्ति अपनी परिधि मे रहकर अपने गिर्द के व्यक्ति को समझावे और फिर एक समूह शक्ति ऐसी पैदा हो कि आतकवादी को लोग पकड-पकड कर सरकार को सौंप दे और जो उनका मौन समर्थन जाति स्वार्थ के कारण कर रहे हो ऐसे लोगो को राष्ट्र के प्रति समर्पण देने के लिए तैयार करे।

अन्य प्रान्तो पर नजर डाले तो वहाँ सिख लोग जिस प्रकार जीवन-यापन कर रहे है उससे जरा भी आभास नही होता कि थोडे से आतकवादी जो भावना फैला रहे है, उसका असर हुआ हो। दिल्ली आदि स्थलो पर हुए दगो का विषाद थोडा वाकी होगा पर वह स्थायी नही है जवकि पजाव मे स्थायी द्वेष के बीज वोये जा रहे है। इस स्थिति का अन्त होना ही चाहिए।

जो कुछ उपलब्ध है वही वहुत है, यह भाव जव तक पैदा नही होगा तव तक 'और और' या 'अपना एक पृथक' की भावना खत्म नही होगी। साधुओ के लिए यही करणीय है कि वे इसी भावना को वदले। अगर सत वर्ग भी भावना भड-काने के कर्म मे जुडेगे तो फिर ऐसी सभावना रखना कि शान्ति स्थापित हो जाय, वेकार है।



६

सम्पूर्ण जैन समाज को चुनौती

भारतवर्ष में केवल जैन साधु और साध्वी ही ऐसा समूह है जो भ महावीर के अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और नैतिकता का शखनाद करते हुए धर्म-जागरण करता है। देश मे उसका नैतिक सन्देश ही काम कर रहा है कि अन्य विकसित और विकासमान देशो की टक्कर मे भारत के राष्ट्रनायक अहिंसा, नैतिकता व सहअस्तित्व की आवाज बुलन्द करते हुए अपना भाल उन्नत कर गौरवपूर्वक भारतीय सस्कृति का स्वर-निनाद कर रहे है। यह सब हो रहा है २५०० वर्षो से आज तक जैन साधु-साध्वियो द्वारा होने वाले पाद विहार के कारण। उनका पाद-विहार ही ऐसा विधि-विशेष है जो जन-जन मे नैतिकता का दीप से दीप प्रज्वलित करने वाला महा जागरण है। जैन साधु-साध्वी वर्ग अपने पथ पर बराबर पच्चीस सौ वर्ष से मशाल दर मशाल हाथ दर हाथ सौंपते हुए चलता चला आ रहा है।

परन्तु परम आश्चर्य और दु ख का विषय है कि आये दिन यत्र-तत्र कुछ दुष्ट प्रवृत्ति के लोगो द्वारा जैन साधु-साध्वियो के साथ अभद्र व्यवहार होता रहता हैं।

कुछ वर्षो पूर्व नारायणा (गोडवाड) मे श्वेताम्बर जैन मुनियो के उपाश्रय मे घुसकर असामाजिक लोगो ने श्वेताम्बर मुनियो के रहते वर्षा न होने देने के मिथ्याभ्रम से ग्रसित होकर उनके पात्र फोडे, वस्त्र फाडे, उन्हे प्रवचन-मच के पट्टो से बाँधा, उन्हे मारा, मार-मार कर मरणासन्न कर दिया।

इसी प्रकार तीन वर्ष पूर्व मारवाड मे सिरोही के पास मूर्तिपूजक सन्तो की निर्मम पिटाई की। मनमाड मे आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी म० जहाँ प्रवचन कर रहे थे, पाडाल जला दिया गया था। व्यावर के पास उन्ही वर्षो महासती श्री अर्चना जी ऐसे लोगो से बाल-बाल बचे। भवानीमण्डी मे भी उन्ही दिनो हुए एक साध्वी जी के अपहरण काण्ड से सभी परिचित है।

दिनाक १२-३-८३ को राजस्थान के निकुम ग्राम से चिकारडा की ओर पाद विहार करती जैन साध्वियो के साथ मादुलखेडा ग्राम के सीमा क्षेत्र मे कुछ दुर्मतियो द्वारा जो अभद्र व्यवहार हुआ उसने सम्पूर्ण हिन्दुस्तान को हिला सा दिया। न केवल जैन समाज ने अपितु सभी धर्मो के लाखो करोडो उपासको ने अपना विरोध राजधानी स्थित ससद तक पहुँचाया, काफी कुछ हुआ। उस समय लगा कि भविष्य मे अब ऐसी पुनरावृत्तियाँ न होगी, पर अफसोस है कि फिर भी ऐसा प्राय. चलता रहता हे जो हमारी महान भारतीय सस्कृति के लिये कलक एव एकदम दुर्भाग्यपूर्ण है।

अभी-अभी फिर दिनाक ६ दिसम्बर की राजस्थान पत्रिका मे छपा है कि अजमेर के निकट गगवाना गॉव मे गत दिनो जैन मुनि के साथ मारपीट हुई। इसी प्रकार दिगम्बर जैन मुनि रमणसागर जी पर हुए हमले की दैनिक भास्कर ने चर्चा की है। पढकर मन मे हार्दिक पीडा की अनुभूति हुई।

अब यहाँ यह प्रश्न उभरना स्वाभाविक है कि इसके लिए करना क्या चाहिये ? मै समझता हूँ कि इस बारे मे हमे उग्र बनकर आन्दोलन आदि करने की कोई आवश्यकता नही है। सरकार तक विवेक एव शान्ति पूर्ण ढग से हम अपनी बात पहुँचाएँ यही ठीक है, पर आजकल की स्थितियो को देखते हुए मुझे ऐसा लगता है कि सरकार भी कुछ नही कर पायेगी। कहाँ है अपने स्वार्थो मे डूबे हुए नेताओ के पास इस बारे मे चिन्तन !

मेरी दृष्टि मे आज समग्र जैन समाज को सगठित होने की आवश्यकता है। लाखो की सख्या मे जैन समाज देश और विदेशो मे रह रहा है। उसकी आवाज मे वह शक्ति होनी चाहिये कि असामाजिक तत्व ऐसी बेजा हरकते करने का कभी स्वप्न मे भी दु साहस न कर सके। जैन समाज के असगठन और सोचने की इस तुच्छ वृत्ति के तरीके के ही कारण ही हमारा चिन्तन इस प्रकार चलता है—हम दिगम्बर जैन है। हम श्वेताम्बर जैन हे। हम तेरापन्थी जैन है। हम स्थानकवासी जैन हे। समस्या किस सम्प्रदाय और ग्रुप की हे। घटित घटना स्थानकवासी साधु-साध्वियो के साथ हुई है तो हम क्यो परेशानी मे पडे ? दिगम्बर के साथ हुई है तो हमे क्या लेना-देना, करेगे वे ही प्रतिकार !

क्या यह परम लज्जा व जिनशासन पर कलक नही है ? हम लोग सम्प्रदायो के तुच्छ घेरो मे बन्दी बने रहे और समय रहते अलग-अलग बाडो मे रह रहे हम जैन लोग न चेते तो गुण्डे तथा असामाजिक तत्व और सम्प्रदायो की शूरा मे उन्मत्त लोग साधु-साध्वियो के सयमनिष्ठ शान्त जीवन एव इज्जत पर हमला बोलते रहेगे।

सम्पूर्ण जैन समाज के सामने ऐसी घटनाएँ गम्भीर चुनौती हैं। मैं आप सब, सभी जैन-वर्ग सम्प्रदायो के आचार्यगण व प्रमुखो से विनम्रतापूर्वक दामन फैलाकर इसका उत्तर माँगता हूँ—क्या जैन साधु-साध्वियो पर इस प्रकार के घिनौने अत्याचार होते रहेगे और हम सम्प्रदायवाद मे वँधकर देखते रहेगे या निर्जरा धर्म की दुहाई देकर अपनी गर्दने अत्याचारियो के सामने झुकाते रहेगे ? वोलो आचार्यगण ! महावीर के अहिंसा चिन्तन मे आपने पूरा जीवन गुजार दिया है। ऐसे प्रसगो पर आपका अहिंसा चिन्तन क्या राह सुझाता है ?

शायद सभी सम्प्रदायो के आचार्यो के समक्ष जैन दीक्षा मे जीने वाला सवसे छोटा मुनि हूँ। मुझे आचार्य कालक की वह भीष्म प्रतिज्ञा याद आ रही है—वह भी अहिंसा धर्म के परम मर्म चिन्तक थे। जिस समय साध्वी सरस्वती का उज्जैन के वासनाग्रस्त राजा गर्दभिल्ल ने अपहरण किया था। उसका शील भग करना चाहा था तब अहिंसा धर्म के मर्म को जानने वाले आचार्य कालक (कालकाचार्य द्वितीय) ने साध्वी सरस्वती के शील की रक्षा के लिए उज्जैन से सुदूर प्रदेशो मे जाकर अपनी विद्या, वुद्धि और शौर्य के वल पर सेना का विशाल सगठन किया, उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल को वन्दी वना लिया और साध्वी सरस्वती को उसके चगुल से छुडा लिया था।

जैनाचार्य कालक और सरस्वती साध्वी की इतिहासविश्रुत घटना, वर्तमान जैनाचार्यों को स्मृतिस्थ हो ,आई होगी। मैं कहना चाहूँगा कि इस प्रकार समय-समय पर घटित होने वाली घटनाये अन्तर्मन को कुचल जाती हे। दस हजार साधु-साध्वियो के नेतृत्व एव सरक्षण का प्रतिनिधित्व करने वाले सभी जैन सम्प्रदायो के आचार्यो से उत्तर चाहूँगा कि वे इस तरह के प्रसगो पर क्या सोचते है ? उनके निर्णयात्मक उत्तर की कि वे क्या व्यवस्था देते हे। इसकी प्रतिपल प्रतीक्षा करूँगा।

जैनाचार्यो से तो मैंने उक्त अपेक्षा की है। साथ ही समाज के युवा-वर्ग से एव सघपतियो और स्थान-स्थान के सगठनो से भी उत्तर चाहता हूँ कि वे ऐसे प्रसगो के प्रतिकार एव समाधान के लिए क्या सोचते है ?

सम्वन्धित विचारक, विद्वान, समाज-सुधारक अपने-अपने निर्णय और विचार प्रेषित करे। इस चर्चा को राजधानी स्थित ससद तक पहुँचाने मे भी कृतसकल्प रहे। कुछ भी हो, जैन समाज का सगठन आवश्यक है।

उक्त आह्वान के पश्चात मैं यह कहना चाहता हूँ कि सभी क्षेत्रो के श्रावक

सघ तुरत कम से कम यह निर्णय तो अवश्य ले जिस किसी गॉव नगर से साधु-साध्वियो का मुख्यतः साध्वियो का जब भी विहार हो, तत्रस्थ सघ की ओर से सशक्त एव सक्षम व्यक्ति जो हर अच्छी-बुरी स्थिति का मुकाबला कर सकें, आगे वाले ग्राम तक उन्हे सुरक्षित पहुँचाने की व्यवस्था करे। यदि यह व्यवस्था उपलब्ध न हो तो जिस ग्राम से विहार हो, वे साधु-साध्वियो को निश्चित स्थान तक पहुचाएँ। वहाँ से आगे वाले ग्राम का सघ व्यवस्था को अपने हाथ मे ले।

इस व्यवस्था मे सम्प्रदाय एव सकुचित दृष्टिकोण से नही सोचना चाहिये। हमे केवल प्रशासन के भरोसे बैठकर कर्त्तव्यो से नही डगमगाना है। अपने-अपने सघ समाज मे मीटिंग चर्चा आदि करके आप सब इस सम्बन्ध मे सुरक्षा के लिए तत्काल निर्णय ले।



७

एक सामयिक चिंतन :
ध्वनिवर्धक यंत्र के सम्बन्ध में

यह युग प्रचार का युग है। श्रेष्ठता का प्रचार नही तो जीवन मे निखार भी नही। केवल सदियो पुरानी परम्पराओ को लेकर नये युग की माँग से मुँह मोडना एक तरह का पिछडापन ही है। ऐसी ही अवहेलना का एक शिकार है ध्वनिविस्तारक यन्त्र।

पहली बात तो यह कि जब परम्पराएँ डाली गई तब का युग और था और आज का जमाना और। तब न इतनी भीड जुटती थी, न वातावरण मे इतना शोर था। एक आवाज दूर-दूर तक सुनी जा सकती थी। पर आज वह निस्तब्धता नही है और श्रोताओ का परिमाण बढने से भी आवाज पहुँचाने का दायरा बढ गया है। दूसरी ओर ध्वनि प्रदूषण के कारण मनुष्य एक अनचाहे बहरेपन से भी ग्रस्त हो गया है। ऐसी स्थिति मे ध्वनि विस्तारक यन्त्र को अपनाना आवश्यक-सा हो गया है। अगर सन्त स्वय निषिद्ध माने तो वे जो बोलें अन्य कोई उसे ध्वनिविस्तारक यन्त्र पर पुन बोले। पर यह एक जटिलता होगी, उचित तो यही होगा कि यन्त्र को अपना ही लिया जाये।

ध्वनि-प्रसारक यन्त्र मे ही आचार हानि समझने वाले जब अन्य किसी प्रवृत्तियो को प्रत्यक्ष परोक्ष पुष्ट करते है, जिन मे आचार आडे आते है तो फिर इस सन्दर्भ मे ही यह नाटक क्यो? ऊँट निकल रहा है केवल पूँछ अटक रही है। आगे बढना है तो अवरोधो को दूर करना ही होगा।

और प्रकार की साधु के लिए वर्जित शानो-शौकत तो कायम है। सन्तो के सान्निध्य मे बडे समारोहपूर्वक अधिवेशन होते है, सम्मेलन होते है। विराग की प्रतीक दीक्षाएँ भी बहुत विशाल पैमाने पर लवाजमे के साथ होती है। अनेक प्रकार के जलसे घड लिए जाते है। अभिनन्दन समारोह, पुरस्कार समारोह और अनेक प्रकार के आरोह अवरोह रचे जाते है।

काफिले-दर-काफिले आते है। कारो के काफिले, स्कूटरो के काफिले, अन्य वाहनो की भी पंक्तियॉ-दर-पंक्तियाँ। खूब लोग जुटते है। विभिन्न तरीको से ढेरो पैसा इकट्ठा होता है। मकानात जैसे छात्रावास, स्कूल, स्थानक आदि बन सकते है पर वे सब असातना मे नही आते है? माईक मे पाप है यह एक रूढ धारणा बना ली गई है।

गम्भीरता से जहॉ रोक लगाना चाहिए वह क्षेत्र तो अछूता ही रह जाता है। धर्म-प्रचार के नाम पर क्या कुछ नही होता। ढेरो पुस्तके छपती है। सब कुछ होता है पर माईक के प्रश्न पर बहुत कुछ आडे आ जाता है।

जिन बातो के लिए आँखे तरेरना जरूरी है वे बाते तो सह ली जाती है पर जो वक्त की जायज माँग बनकर सामने आता है उसे हिकारत भरी नजर से देखा जाता है।

जिन कार्यों मे अनिष्ट की आशका है या जो स्पष्टत बुराई लाते है उनके प्रति तो कोई कुछ भी कदम उठाने मे सकोच करता है। बडी बुराई अपना ली जाती है, छोटी बुराई को आतशी शीशे मे बडा कर देखा जाता है।

यदि हम जमाने के साथ कदम मिलाकर नही चल पाते तो हमारी परम्परा दम तोड देगी। हम यदि समाज के साथ जुडे है तो हमे समाज को सासत मे डाल कर कोई कार्य नही करना चाहिए। हमे सिद्धान्तो से ही प्रियता है तो फिर आज के युग मे शीघ्र ही हमे केवल आत्म-साधना मे लीन हो जाना चाहिए। बडी भीड जुटाने की हमे दरकार ही क्या है? समाज के सामने जाने और आदर पाने की हमे आवश्यकता ही क्या है? हम अपनी आत्म-साधना ही तक सीमित रहे।

पत्थर के बुत बनकर सीमित रहने की बजाय निरन्तर हमे क्रियाशील रहना है। अपनी सोच को लाखो-करोडो तक पहुँचाना है। हमे भौतिक आग्रहो से बचना है पर जो साधन आत्मा तक पहुँचाने मे हमे सहायता दे, हमारी साधना का प्रतिफल अन्यो को भी लाभ पहुचा सके तो हमे कुछ उदारता अपनानी होगी।

स्थिति की विवशता हमे बेबसी ही तो सौंपेगी। वह हमे औरो से पीछे रह जाने की स्थिति मे ला देगी। बुराई दिखती है हमे तो सबमे एक सी दिखे। विशेपकर एक ही चीज को लक्ष्य करके हमे एकागी दृष्टिकोण ही मिल पाता है। हमे सर्व कल्याण की बात पहले सोचना चाहिए और बात बाद मे।



८

श्रमणसंघ के समक्ष समय की चुनौती

तपोधन के अप्रेल (८३) अक मे एक प्रश्न उठाया गया था। समाज के प्रवुद्ध वर्ग ने उसे खूब सराहा और नई और पुरानी, दोनो पीढियो ने इस आशय के पत्र प्रेषित किये-कराये कि साधु से सम्वन्धित कुछ प्रश्नो को आप इस माला मे आगे वढाएँ। कतिपय सुझाव भी लिख भेजे है। कुछ व्यक्तिपरक पत्रो मे यह भी उल्लेख प्रशसा के स्वर मे किया है कि साधु आचार के कतिपय मुद्दे आज के युग मे नाकारा हो चुके है। हमारी वैचारिक जडता उसे छोडने को राजी नही है। आप क्यो नही तपोधन के माध्यम से युगीन प्रश्नो को समाज के समक्ष साहसपूर्वक प्रस्तुत करते है? उत्साहित करते वहुत से ऐसे पत्र भी प्राप्त हुए जिन पर विचार करे तो सत्य झाँकता हुआ दिखाई देता है। अस्तु चिनगारी की प्रश्नमाला मे साधु जीवन से सम्वन्धित तर्कसगत एक प्रश्न रख रहा हू।

साधु समाज वहुत वडा है। मत, सत है। वह छोटा है तो क्या और वडा है तो क्या? सभी को समादर देना, मैं साधुत्व का अनिवार्य अग मानता हूँ। श्रमण सघ का गठन हो गया है। यह एक उपलव्धि अवश्य है परन्तु जव तक एक आचार्य की शिष्य परम्परा स्थापित नही हो जाती, मैं नही मानता कि इस गठन मे प्राण प्रतिष्ठा आ पायेगी। एक शिष्य परम्परा स्थापित हो जाने पर साधु जीवन से सम्वन्धित वहुत से विकट प्रश्न स्वतः समाधान पा जाएँगे।

श्रमण सघ गठित हो जाने पर भी एक शिष्य परम्परा न होने के कारण साधुओ मे सामन्तवाद पनप रहा है। एक छोटा सा उदाहरण ले। एक साधु का ग्रुप है। उसमे पचास साधु हैं। निश्चय ही उस ग्रुप का समाज मे परिचय क्षेत्र विस्तृत होगा। उसका भक्त वर्ग भी व्यापक होगा। उसकी निजी समस्या या अधीनस्थ मुनियो की कोई समस्या होगी, अपने परिचय विस्तार के वल पर गृहस्थो से शिष्यो के अध्ययन-अध्यापन आदि किसी भी मामले पर वह पुष्ट और मनोनुकूल ठोस समाधान कर लेगा।

जो साधु ग्रुप छोटा—थोडे साधुओ का होगा उसका परिचय क्षेत्र भी सीमित होगा। समस्याओ से मुक्त तो वह भी नही है परन्तु वह साधनो की सीमितता के कारण कुण्ठित होता रहता है। आध्यात्मिक प्रगति के स्थान पर साधनो की पूर्ति मे उलझा रहेगा ।

तीन या चार साधुओ का कोई ग्रुप है। उसमे एक अस्वस्थ रह रहा है या वृद्ध है, अशक्त है। उसे छोड़कर दूसरे साधु भी अन्यत्र विचरण नही कर सकते। ऐसा हो नही सकता कि दूसरे ग्रुप के साधु वृद्ध या रुग्ण साधु को डोली मे बिठाकर गाँव-गाँव लिए-लिए घूमे। अगर घूमे भी तो कब तक ? क्या ऐसी स्थिति मे रबर पहियो की गाडी मे वृद्ध साधु को बिठाकर एक गाँव से दूसरे गाँव नही ले जाया जा सकता है ? उसमे न तो दूसरे बहुत से साधुओ की आवश्यकता पडेगी और न किसी प्रकार की हिंसा की सभावना रहेगी।

डोली मे साधु को उठाये-उठाये फिरना वैसे भी अशोभन है। प्रथम तो दूसरे किस साधु को फुर्सत पडी है कि वह किसी वृद्ध व रुग्ण साधु को उठाता फिरे। श्रमण सघ मे एक शिष्य परम्परा के अभाव मे ऐसा अहोभाग्य भाव तो अभी जन्मा नही है कि साधु को डोली मे बिठाकर एक गाँव से दूसरे गाँव श्रवणकुमार बनकर धूमा जाये। एक साधु को डोली मे उठाना मेरी दृष्टि मे साफ-साफसामतवाद है। सामन्तवाद को तजने का नाम ही अकिंचनभाव—साधुत्व है। हम अपने साधुत्व की होली जलाकर क्या साधुत्व की गरिमा को सुरक्षित रख पाएँगे ?

वैसे भी श्रमण सघ एव सघ से ।बाहर जो सम्प्रदाय है उनमे कई जगह अस्वस्थता एव चलने-फिरने की शक्ति के अभाव मे ह्वील चेयर, थैला आदि का उपयोग हुआ एव हो रहा है। कई बार डोली को गृहस्थो द्वारा उठाने के प्रसंग भी आते है। ऐसी परिस्थिति में क्यो नही किसी बाबा गाडी मे ही वृद्ध, अशक्त या रुग्ण साधु को बिठाकर निश्चित स्थान पर पहुंचाने की व्यवस्था को सघाचार्य निर्दोपाचार मानकर घोपणा कर देते है ?

महावीर की निर्मल आचार परम्परा को आगे बनाये रखना है तो हमें यह निर्णय ले लेना चाहिए अन्यथा मन-मन मे घुटता साधु समाज धीरे-धीरे विनाश की ओर अग्रपद होता जायगा। युग की आचार क्षमता परम्पराओ के खूँटों से कभी बधी नही रही है। आज भी नही बधी है, भविष्य में भी नही बधी रहेगी।

ऐसी अवस्था में मेरा श्रमण सघ के वरिष्ठ आचार्य एव मुनियो को विनम्र सुझाव है कि क्यो नही हम एकमत से इस सत्य को स्वीकार करलें कि रुग्ण, वृद्ध, अशक्त मुनि को बजाय डोली में बिठाने के बाबा गाडी में, रबड ट्राली में

बिठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने को मानवीय आवश्यकता मानकर सर्वसम्मति से स्वीकार करले ।

आचार्य अशक्त हो, कोई प्रतिष्ठित या पदधारी मुनि अशक्त हो, उसे डोली मे बिठाकर उठाने के लिए दसियो साधु तैयार हो जाएंगे। एक सामान्य सीधा और सरल साधु ऐसी अवस्था मे हो तो क्या आचार्य के कहने मात्र से दो-चार भी साधु उस अशक्त सामान्य साधु को डोली मे उठाने के लिए तैयार हो जाएंगे ? हो भी जाये तो कब तक ? क्या ही अच्छा हो हम श्रमण सघीय साधु, एकमत से यह घोषणा करे कि बाबा गाडी मे अशक्त साधु को ले जाया जा सकता है ।

यह अहिंसक तरीका है । साध्वोचित अपेक्षा है । इसमें कोई दोष भी नही है ।

मेरा यह प्रश्न केवल लेखकीय नही है । मै साहसपूर्वक कहता हूं कि यह अहिंसक तरीका है । इसे सर्वसम्मति से घोषणा करके निर्दोषता की श्रेणी में परिगणित करना चाहिए ।



६

कहां महावीर और कहां हम ?

विश्व ज्योति भगवान महावीर के महान जीवन एवं उनके उदात्त सिद्धान्तो को ससार भर की आचार-विचारगत परम्पराओ मे एक महत्वपूर्ण एव विशिष्ट स्थान प्राप्त है । यह निर्विवाद सत्य है कि प्राणीमात्र की कल्याण कामना के साथ महावीर ने जिन लोकोपकारी सिद्धान्तो का निरूपण किया, वे शाश्वत है—व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि के जीवन मे क्रातिकारी परिवर्तन लाकर उन्हे उत्थानगामी दिशा देने वाले है। यही कारण है कि जिन महापुरुषो के द्वारा विश्वमगल का बल मिला है, उन मे भगवान महावीर शिखरस्थ है ।

आध्यात्मिक एव सास्कृतिक धरातल पर महावीर ने एक ऐसी सौम्य काति का सूत्रपात किया, जिसने अतीत मे ही जागृति का सदेश नही फूँका, अपितु जो वर्तमान मे भी सर्वतोमुखी जागृति के प्रेरणा-मन्त्र के रूप मे आन्दोलित कर रही है तथा भविष्य मे भी जो युगो-युगो तक अपने मौलिक प्रभाव से जन चेतना को विशुद्ध आत्म-दर्शन एव स्व-पर के कल्याण-मार्ग की ओर उन्मुख बनाती रहेगी ।

भगवान महावीर के चरणो मे अपनी सिद्धान्तनिष्ठ आस्था अर्पित करने की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो परिनिर्वाण वर्ष के रूप मे मनाया गया था, मेरे विचार मे यह एक बहुत ही अच्छी परम्परा है। अपनी श्रद्धेय विभूतियो का हमे सम्मान करना चाहिए और इसे अपना कर्तव्य समझकर। किन्तु इस कृत्य तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री हमे नही मान लेनी चाहिए। भगवान महावीर ने, जहाँ तक इन्हे मैं समझ पाया हूँ और मुझे जो पढने को मिला है, कही भी यह नही कहा कि मेरा कोरा नाम जपो या मेरी पूजा करो। किन्तु आज हकीकत यह है कि अधिकाशत केवल आचारशून्य पूजावाद को अधिक महत्व दिया जा रहा है। नग्न वास्तविकता यह है कि पिता को नमस्कार तो कर रहे हैं परन्तु उनकी आज्ञाओ को टाल रहे है। कोरे पूजावाद मे मानसिक दासता जन्म लेती है, प्रबुद्ध चेतना नही। ठीक ही कहा है—

हमको नई रविस के, हलके जकड रहे है।
बातें तो बन रही है, और घर बिगड़ रहे है ॥

वस्तुत आज ऐसी स्थिति हो रही है कि महावीर एव उनके अनुयायियो के बीच तुलना के सूत्र दुर्बल हो गये हैं। अनायास एक आह सी फूट पडती है कि कहा महावीर और कहा हम ?

महावीर ने स्वय अपने जीवन मे ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय की श्रेष्ठ आराधना की एव चतुर्विधसघ के लिए इस आराधना का मार्ग निर्धारित किया। महावीर की अहिंसा "मत मारो" के रूप मे केवल नकारात्मक रूप जीवन को समग्रता की दृष्टि देने वाली नही है। मारो ही नही अपितु रक्षा भी करो यह अहिंसा का विधि रूप है तथा इस अहिंसा का सम्बन्ध सिर्फ शरीर से ही नही माना गया है बल्कि इसे मन और वचन की गहराइयो से भी जोडा गया है। महावीर का अपरिग्रहवाद तो स्वेच्छा से लाया हुआ साम्यवाद है, जहा परिग्रह के प्रति ममता का भाव भी समाप्त हो जाता है। महावीर ने माना कि जब स्वार्थो का सघर्ष अहिंसा की साधना से तथा परिग्रह की ममता अपरिग्रहवाद के अनुकरण से समाप्त हो जाय, तब सत्य की शोध का भाव प्रबल हो उठता है। सर्वत्र रहे हुए सत्यखण्डो को जोडकर सम्पूर्ण सत्य के दर्शन का महावीर का सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। महावीर का दर्शन असीम गम्भीरता का दर्शन है और यह दर्शन ही उनके भव्य एव दिव्य व्यक्तित्व की झलक प्रस्तुत करता है ऐसी दिव्य दृष्टि महावीर ने स्वय की साधना से प्राप्त की तो उन्होने वैसी दिव्य दृष्टि प्राप्त करने का मार्ग समस्त साधको के लिए भी उन्मुक्त बना दिया है।

किन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे यह कैसा विरोधाभास है कि उस दिव्य दृष्टि के प्रकाश की विद्यमानता मे भी हम अपनी आँखे बन्द करके अन्धकार मे भटक रहे है। एक छोटे कथानक से इस वस्तुस्थिति को समझिये कि एक व्यक्ति एक वैद्य के पास गया और जाकर बोला—इस नगर मे कितने लोग कपड़े रखने वाले है तथा कितने लोग बिना कपडे वाले ? कृपया इसकी गिनती बता दीजिए। वैद्य ने कहा—मै कोई निकम्मा हूँ जो ऐसी गिनती करता फिरूँ ? मैं एक काम कर सकता हूँ कि तुम्हारी आँखो को ठीक कर दू। वैद्य ने उसकी आँखो मे अजन लगाया जिससे उसकी आखे खुल गई। तब वैद्य ने कहा—अब तुम्ही जाओ और वस्त्रवानो और वस्त्रहीनो की गिनती कर लो। जो वास्तव मे आँख देता है, वह दर्शन देता है। सब कुछ को उसकी असली हालत मे देखने की शक्ति देता है। महावीर ने हमे ऐसा अजन दिया है कि जिसका प्रयोग करके हम भी दिव्य दृष्टिसपन्न हो सकते हैं। आवश्यकता है कि हम अपने विवेक को जागृत बनावे, उनके

ज्ञानालोक मे वस्तुस्वरूप का अध्ययन करें एवं साधना के मार्ग पर अग्रसर बने। तब मुक्ति की मजिल हमसे दूर नही रहेगी।

महावीर ने जो ज्योति जलाई है, उसके शुभ प्रकाश मे हम अपने आप को देखे-परखे और निर्णय ले कि अन्धकार की कैसी कालिमा हमारे जीवन-पटल पर छाई हुई है ? महावीर सिद्ध हो गये पर उनकी सिद्धि की प्रेरणा को हमने अपने विचार एव आचार मे किस रूप मे क्रियान्वित बनाई है—इसे आत्मालोचना का विषय बनावे तो निश्चय ही महावीर और हमारे बीच की दूरी घटती चली जायेगी। आज जो व्यक्ति का विश्वास अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह आदि से उठता चला जा रहा है और उसका जीवन जो मर्यादा एवं सयम की परिधि से हटता चला जा रहा है उसे ऐसी आत्मालोचना से नया सम्बल मिलेगा। जीवन मे सतुलन स्थापित होगा तो आत्म-नियन्त्रण की भावना बलवती बनेगी। "कहाँ महावीर और कहाँ हम" पर जितना गहराई से चिन्तन करेंगे, उतना ही सुन्दरतम जीवन निर्माण हो सकेगा।



१०
युवा-शक्ति को आव्हान है

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई ।
जार्विदिया न हायति, ताव धम्मं समायरे ॥

जब तक वृद्धावस्था नही पाते हो, जब तक व्याधियो का जोर नही बढता, जब तक इन्द्रियो की शक्तियो का ह्रास नही होता, अब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

भगवान महावीर के इस सुकथन मे धर्म के आचरण का काल निर्धारित कर दिया गया है परन्तु कौन पालता है उस काल मे धर्म ? कौन समझ पाया है इस कथन के हार्द को, इस अभिव्यक्ति के मर्म को कि—

"जो सुख मे सुमिरन करे तो दुःख काहे को होय"

हा, युवा-काल शक्तिसम्पन्नता, सक्षमता का काल है। इस काल मे सभी इन्द्रिया पूरी तौर से सक्रिय रहती है पर मनुष्य इस सक्रियता से भोग को परवान चढाता है। वह सुख को सतह पर ही तलाशता है और उसकी यह तलाश कभी भी पूरी नही होती है वह अपनी अक्षमता की लाश अपने कधे पर लिए भटकता रहता है। तब उसे भान होता है कि उसने गलत दिशा ग्रहण कर ली थी पर तब तक बड़ी देर हो चुकती है।

धर्म की व्यवहृतता के लिए मै कोई रूढ-परिपालन का हामी नही हूँ, पर सच्ची मानवीयता जिससे प्रकट हो वह परिपालन तो जरूरी है। बडा विकट है यह समझ पाना कि निष्पाप क्या है, क्योकि आज हम देखते है कि पाप ही इतना अधिक 'ग्लेमोराइज्ड' हो चुका है कि उसमे ही सुख, सत्य तथा श्रेष्ठता अनुभव की जाने लगी है। सत्य की अनुसधित्सा की अब फिक्र किसे रह गई है ? सब ही सब कुछ 'रेडीमेड' चाहते है। अब धर्म चिंतन अथवा आत्मौपम्य का विषय कहा रहा है ? अब तो धर्म के बने-बनाये स्वरूप पर एक पूर्ति भर की जाती है। यह एक ऐसी क्षति है, जिसकी क्षतिपूर्ति सम्भव नही रह पाई है।

जब धर्म ही खतरे में पड गया है तो फिर उसके आचरण या अनाचरण का प्रश्न ही कहां रह गया है और जब आचरण ही निषिद्ध हो गया है तो उसके लिए वक्त का निर्धारिण व्यर्थ है ।

परन्तु दरअसल बात ऐसी नही है । धर्म इतना खोखला उपादान नही है । वस्तुत खोखलापन आदमी मे ही आया है । अगर वह पुन. जीवतता अपनाये और धर्म के वास्तविक स्वरूप को उजागर करे तो यह उसका अपना कल्याण तो होगा ही, साथ ही साथ सर्वकल्याण का हेतु भी बनेगा और इस दुष्कर कर्म के लिए युवा काल से बढकर कोई उम्र नही, कोई सुनहरा समय नही, अनुपम अवसर या मौका नही । जितनी सक्रियता, जितना श्रम इस कार्य के लिए आवश्यक है उसे युवा शक्ति ही प्रदान कर सकती है ।

अतः भगवान महावीर का उक्त कथन टेर रहा है, आह्वान कर रहा है । युवा वर्ग इस प्रचण्ड सूर्य को बढकर थाम ले यही अपेक्षा है, यही आवश्यक है ।

यह समय और यह घड़ी, हर वक्त मिलने की नहीं ।
यह चमन, गुल क्यारियां, हर वक्त खिलने की नहीं ॥



११

सिगरेट नहीं, यह विषकन्या है

एक बड़ा-सा प्रलोभन भरा साईन बोर्ड लगा है—
'एक कश और मजा ही मजा।' कितना सही है आपका चयन। या
एक सुन्दर-सी रमणी मोहक मुद्रा मे चित्रित है, आपके मुँह मे झूलती हुई
सिगरेट को एक माचिस की तीली से सुलगाती है।
एक अनछुए कोने मे उसी साईन बोर्ड पर लिखा है—बहुत ही छोटे अक्षरो मे—
'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।'
जैसे किसी सलौने-से बाल-मुख पर लग गया है काजल का एक दिठौना।

सिनेमा का हीरो, हीरो नही कहलाता जब तक वह श्वेत-धूम्र-दण्डिका को अपनी सगिनी नही बना लेता। परेशानी दर्शाना हो तो सिगरेट के ठुड्डो से भरी एश ट्रे। खुशी दर्शाना हो, दोस्ती दर्शाना हो या इन्तजार दर्शाना हो तो सिगरेट। किसी जमाने मे एक खलनायक सिगरेट पीते-पीते धुएँ के ऐसे छल्ले अपनी सिगरेट से निकालता था कि वे गोलाकार आकार मे हार से बन जाते थे।

स्थान-स्थान पर पान की दुकानो की आड़े सिगरेट फूँकने किशोरो से भरी रहती है। होटलो के केबिन मे बैठे सिगरेट मे अपना कलेजा झोकते युवा व किशोर है। बुढाए शरीर जो प्रति कश इक्कीस बार खाँस-खाँस कर भी इस गौरवर्णा का हाथ थामे ही रहता है।

सिगरेट के गुल खिराते लोग बेहतर जानते है कि इस जहरीली श्वेत-सर्पिणी ने क्या-क्या गुल नही खिलाए। फिर भी यह आत्म-हनन का दौर चलता ही रहता है। क्या प्रमाद है, क्या अवसाद है कि लग गई तो लग गई, छूटती ही नही है। लत, तलब के ही गुलाम बने धूँ-धूँ जलाते है अपना कलेजा।

इस लत, इस तलब के कारण व्यक्ति की स्थिति ऐसी हो जाती है कि अपना ही घर फूंक कर जैसे वह तमाशा देख रहा हो। इसे क्या अपनाया कि

'चाह गई, आरजू गई, मनवा वेपरवाह।' अजब वैराग्य है यह भी कि व्यक्ति जीवन के प्रति उदासीन हो उठे।

चाहे कितना भी सोणा लगे मुण्डा, चाहे कितना भी हेण्डसम लगे युवक अंतत. वह एक ऐसे पथ पर चल पडता है जिसमे अनेक दुष्परिणाम भरे होते है। और पुरुप ही क्यो आज इस दौड़ मे आधुनिक नारी भी शामिल हो गई है। एक राजकुमारी हुआ करती थी पुराने आख्यानो मे, वोलती थी तो फूल झड़ते थे और कोई एक कुटिल पात्र होती थी बोलती थी तो धूआँ उगलती थी, राख झडती थी। वही कुटिल पात्र आज नजर आने लगी है।

डॉक्टर स्पेन्स ने एक आँकड़ा दिया है। उनके अनुसार सिगरेट वडी मारक है। वे कहते है एक सिगरेट से १८ मिनट घटते है मनुष्य की आयु के। आप खुद ही गणित विठाले कि चेन स्मोकर अपने वास्तविक जीवन मे कितना जोवन जी पाता होगा। और चेन स्मोकर ही क्यो हर स्मोकर तिल-तिल अपना जीवन घटाकर किसी ज्योतिषी से क्या यह नही पूछता कि वह कितना जियेगा ? जिस डाल पर वैठा है उसे ही काटकर पूछता है कि वह गिरेगा तो नही ? यह कहाँ की तुक है ?

प्रलोभन भरी श्वेत धूम्र दण्डिका के सकेत तो सब समझ लेते हैं और उसकी मोहक, मादक मुद्रा से खींचे सव कोई उसके पाश मे वँधे चले जाते हैं, लेकिन उसके यथार्थ, उसमे भरे विष को कोई नही जान पाता।

पुराने जमाने मे शत्रु को पराजित करने या उसे खत्म करने मे विपकन्याओ का प्रयोग होता था। जिसके अतर्गत वाकायदा विपकन्याएँ विप द्वारा ही पाली जाती थी। वे कन्याएँ भोग्या वनकर एक ही दश मे शत्रु का जीवन समाप्त कर देती थी। सिगरेट भी ऐसी ही एक विपकन्या है। यह अपने मे २४ घातक विप सजोए हुए है।

आइये, कुछ प्रमुख विप व उनकी तासीर से परिचय करा दूं। वैसे यह तथ्य भी जान ले कि पहले वाली विप-वालाओ से यह विपकन्या ज्यादा क्रूर है; क्योकि वे तो एक ही दश मे काम तमाम कर देती थी पर यह तिल-तिल मारती है। जीने का प्रलोभन दे-देकर छलनी कर देती है। जिन्दगी, जिन्दगी न रहकर एक खण्डहर रह जाती है।

इस विपकन्या मे स्थित निकोटिन विप कैंसरोत्पादक है। इसमे स्थित कार्वन मोनो आक्साइड विप हृदय रोग, श्वास, दमा, आँखो की रोशनी की न्यूनता व समाप्ति की सौगात देता है। विप का मार्श गैस स्वरूप शक्ति को विनष्ट कर नपुंसकता से सलग्न करता है। विप का अमोनिया स्वरूप पाचन

शक्ति और जिगर को तहस-नहस कर देता है। विष का कोन्नोडिन स्वरूप सिर चकराने से कुछ नसो मे शैथिल्य की नैराश्यमयी रचना करता है। विष जो पायरोडिन के माध्यम से आता है आँतो मे खुश्की पैदा कर कब्ज को बढाता है। विष जिसे इसमे स्थित कार्बोलिक एसिड सौपता है अनिद्रा, विस्मृति और चिडचिडापन लाता है।

परफेरोल विष दाँत को पीलापन व दौर्बल्य सौपने मे सार्थकता समझता है। एजालिन व सायनोजन विष खून दूपित करने मे मददगार होता है। थकान, जडता, उदासी, फुरफुरल व प्रूसिड विष की अनुपम देन है। अन्य विष खाँसी, टी. बी., आतरिक सूजन, लकवा तथा रक्त को पानी मे बदलने मे प्रवृत्त होते हैं।

इस विषकन्या की इतनी विशेपताएँ मनुष्य की कुण्डली मे स्थित गुणो को अवगुणो मे बदल देती है फिर भी मनुष्य इससे लौ लगाता है, इसके प्रति प्रीति जगाता है, धूनी रमाता है, इसे अपने अतस् मे स्थान देता है। इसे मनुष्य की दुर्बुद्धि ही कहा जा सकता है कि वह अपने जीवन को इस प्रकार होम देने में सार्थकता तलाशता है।

इसमे आकर्षण है, जिससे अपने आपको भूले बैठे है कई, वे इसके आकर्षण से ग्रस्त है, बिंध गए है। शायद अपने तिल-तिल मरने के यथार्थ से वे परिचित नही हो पाये है। वे जकडे है, कई रोग अपने मे पाल रहे है। या शायद वे जानते हुए भी उससे दूर नही हो पाते है। वे सब अपने मे अब वह क्षमता नही पाते जो उन्हे उससे परे रख सके।

अब भी यदि मनुष्य चेते, इसे तिलाजलि दे दे तो न केवल उसका अपना वरन् सम्पूर्ण मानवता का भला होगा।



१२

व्यसन विभीषिकापूर्ण हैं

किसी को तिल-तिल कर मारने से शायद यही अच्छा है कि एक ही बार मे विष देकर उसे मार डाला जाये। मुझ जैसे अहिंसा के प्रचारक को ऐसी बात नही कहना चाहिए। हाँ, ऐसा कहना भी मेरे लिए अपराध है पर ऐसा कहने के पीछे मेरे अपने कारण है।

मरना और जीना, जीना और मरना ये तो प्रकृति का नियम है, इसे भला कौन टाल सकता है। पर जीते-जी मरना या मरण ओढकर जीना यह तो कोई अच्छी बात नही है। आज जो युवा समाज मे नशे का प्रचलन बढ गया है वह कुछ ऐसा ही है। नशे का प्रलोभन पहले भी था पर उसके मारे उस समय बहुत थोडे थे। उनकी स्थिति देख अन्य लोग बचने की सोचते थे पर आज स्थिति विपरीत है। आज नशे की लत एक अलग ही आनन्द देती है। उसे कही-कही मर्दानगी का पर्याय भी माना जाने लगा है या फैशन के अनुरूप। विशेषकर युवा वर्ग तो नशे के अनेक तरीके खोज रहा है और नशे के साधन आयात कर रहा है। अवैध रूप से आए ये साधन देश की अर्थ व्यवस्था को भी गड़बडा रहे है।

अगर यह कहा जाये कि यह भी हमारे देश के मस्तिष्क को कुन्द कर देने का कोई विदेशी-षडयन्त्र है तो शायद अतिशयोक्ति नही होगी। पहले इसे उपहार रूप मे देकर आदत डाली जाती है और फिर आदत पड जाती है तो उसे समूल्य देने के उपक्रम मे या तो परिवार से पूर्ति के प्रयत्न हेतु गलत तरीके से पैसा बटोरा जाता है या अन्य कोई अपराध-वृत्ति से व्यक्ति को संलग्न कर दिया जाता है।

नशा एक धीमा विष है जो शरीर के ओज को समाप्त कर देता है और मनुष्य की सोच-शक्ति को क्षीण कर देता है। नशा एक छलावा है जो व्यक्ति को हर समय ऐसे विभ्रमो मे भटकाता रहता है कि उसे सही रूप से सोचने की युक्ति से वंचित कर देता है। नशा एक ऐसा व्यसन है जो केवल व्यक्ति ही नही समाज तथा देश तक को गलत दिशा मे भटकने वाले युवा-वर्ग की सौगात देता है।

नशे के इस कदर प्रचलन के पीछे मुझे तीन मुख्य कारण नजर आते हैं—

१. पाश्चात्य सस्कृति का प्रभाव,

२. राष्ट्रीय चरित्र का विलोप,

३. पारिवारिक विखण्डन ।

भारत ने आजादी पाई । आजादी पाने के पूर्व तक देश के हर नागरिक की मानसिकता यह वन चुकी थी कि वह अपने को पाश्चात्य के हर प्रकार के प्रभाव से मुक्त करने को बेचैन हो उठा था । उस समय पश्चिम से सीधा मतलव अग्रेजो से लगाया जाता था । अग्रेज तो चले गये पर अग्रेजियत कायम रही । अग्रेजो ने अग्रेजी तथा अग्रेजियत के प्रतीक अन्य चिन्हो और व्यवहारो के प्रति एक ऐसी भ्राति की दीवार खड़ी कर दी कि लोग उसके परिपालन मे ही अपने को संभ्रात मानने लगे । यह तो वही मिसाल हुई कि—"उल्लू मर गए पर औलाद छोड गये" ।

आगे चलकर अग्रेजियत के साथ यूरोप एव अमेरिका से भी सास्कृतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक चलन का परिचलन देश मे एक श्रेष्ठता की छाप माना जाने लगा । पाश्चात्य की भौतिकप्रियता ने मनुष्य के आत्म तथा अध्यात्म-तत्त्व को क्षीण कर दिया । भौतिकता की इस तेज लहर को आध्यात्मिक प्रचारक साधु, सत व विद्वान भी न वचा पाये वल्कि वे भी शिथिलता प्रकट करने लगे । उल्टा धर्म को ही अफीम माने जाने की धारणा को वल दिया जाने लगा । इस प्रलोभन को स्थाई रूप देने के लिए अनेक व्यसन व नशे का जोरदार प्रचलन भी किया जाने लगा । व्यक्ति की व्यसनप्रियता को 'ग्लेमोराइज' किया गया । वौद्धिक वर्ग ने भी इसे ही अधिक उजागर किया ।

आजादी के प्राप्त होने के समय तक राष्ट्र के पास एक नैतिक आधार था पर आजादी की प्राप्ति के तुरत बाद नैतिकता को पक्षाघात हो गया । अनैतिकता को खुलकर प्रगट होने के ससुचित अवसर मिलने लगे । सतो के सत्परामर्श उस समय धान मे पडे भूसे के समान थोथे लगने लगे और भ्रष्टता के प्रयासो ने उन्हे उडाकर विलग कर दिया, आपाद-मस्तक व्यक्ति चाहकर या न चाहकर भी भ्रष्टता मे लिप्त हो गया । भ्रष्ट रूप से प्राप्त धन जो कि व्यक्ति की आवश्यकता का अतिरिक्त था अपने रास्ते तलाशने लगा । धन के इस अतिरेक ने मानव को अतिरिक्त रूप से ऐसे कार्यो, व्यवहारो से जुडने की युक्ति दी कि जिनके वल पर वह अपनी भ्रष्टता को गौरवान्वित कर सके । व्यसनो ने ऐसे भ्रमजाल निर्मित किये कि हर व्यक्ति को यह लगने लगा कि ये ही जीवन का वास्तविक आनन्द है । जिसको जो उचित लगे वही कर गुजरो, यह मनुष्य की वृत्ति का प्रमुख अग हो

गया। तरह-तरह के नशे के साधनो व उपकरणो ने इस आग मे घी का काम किया।

पारिवारिक पारस्परिकता मे व्यक्ति पर अकुश था, एक अनुशासन था पर जब परिवार टूटने लगे तो एक अकेलापन गहराने लगा। उस अकेलेपन ने व्यक्ति के जीवन मे एक शून्य का निर्माण किया। उस शून्य को भरने की अन्य सभी चेष्टाएँ व्यर्थ जा रही थी केवल विभ्रमो को पनपाने वाले व्यसन और नशे ही उस शून्य को भरने के साधन बने। जबकि यह केवल मृगतृष्णा ही सिद्ध हुए। जो कभी सामाजिक गुथन था वह व्यक्तिगत स्वार्थ के उदय से छिन्न-भिन्न हो गया और कोई भी अकुश अब रख पाना सम्भव नही रहा। जो प्रवृत्ति कभी लुक-छिपकर चलती रही थी वह अब खुलेआम व्यक्त होने लगी। विखण्डन ने आदमी को खण्ड-खण्ड कर दिया। व्यक्ति इतना अधिक टूट गया कि उसे ऐसे अवलम्ब खोजने पड़े जो उसकी अशक्त शिराओ को खडे होने की ताकत दे सके। उसे वह ताकत तो नही मिली पर उसने इस क्रिया मे ऐसे काल्पनिक स्वरूप अपना लिये जो उसे शक्ति का स्रोत लगे। व्यसनो की डोर थामे व्यक्ति अपने आपको, अपने डगमगाते कदमो को मानवीय विकास की सज्ञा देने लगा।

जब दिशा ही गलत हो गई तो समाज-सुधारको, धर्मोपदेशको व देश के लिये चिंता प्रकट करने वाले राजनयिको की आँख खुली, पर यह आँख जब खुली तब ताजगी प्रदान करने वाला सवेरा पीछे छूट चुका था। धूप की तपन भरी मार ने आदमी को हतोत्साहित कर दिया। वह हताश हो गया। उसकी हताशा ने उन सारी हदो को पार कर लिया जो उसे उबरने की ताकत दे सके।

जिस तरह गलतफहमियो के कारण गलत हाथो मे पडकर व्यक्ति वाजीकरण वाली सस्ती व क्षणिक आवेश प्रदान करने वाली दवाओ का सहारा लेने लगता है उसी तरह अपनी दयनीय अवस्था मे व्यसनो का सहारा लेकर व्यक्ति अपने को और अधिक दयनीय और विकृत ही कर पाया है।

व्यक्ति के वर्चस्व की समाप्ति हो गई। उसकी हताशा को ही बल मिलने लगा। उसकी सारी ओजस्विता ही खत्म हो गई। ओजस्वहीन व्यक्ति अगर यह भी सोचे कि उसने अपने ही हाथो अपने पैरो पर कुल्हाडी मार ली है तो अब वह चाहे तो भी इस स्थिति से उबरने के लिए वह ताकत नही ला पा रहा है।

व्यसन विभीपिकापूर्ण हैं। यह तथ्य अब सब जान गए है फिर भी उनसे मुक्त होने की त्रिया कर पाना उनके लिये कठिन हो गया है। ये व्यसन अविवेक को जन्म देते है। मदमस्त व्यक्ति फिर और भी कुटेवो की ओर अग्रसर होता है।

उसका खान-पान तामसी हो जाता है। उसे सुन्दरी के उपभोग मे रस आने लगता है।

व्यसन जहाँ व्यक्तिगत आनन्द देने लगे वही उन्होने व्यापार का रूप भी ग्रहण किया। वैध रूप से वर्जित होने पर उनका अवैध प्रचलन बढ गया। इसने एक तस्कर व्यवसाय का रूप ग्रहण कर लिया। फलस्वरूप देश देशो की अर्थ व्यवस्था पर इसका दुष्प्रभाव बढा।

व्यसन न केवल आदमी को ही खोखला बनाते है बल्कि वे नगर के नगर, देश के देश को लील जाते है। व्यसनी को अपनी कोई परवाह नही होती और व्यक्ति जब अपनी ओर से बेपरवाह हो जाता है तो कुछ भी कर गुजरने मे वह कोताही नही करता। वह अकरणीय कार्यो मे निमग्न हो जाता है। चाहे उससे कितना ही मानवीय अलाभ क्यो न हो ?

व्यसनी व्यक्ति से किसी भी प्रकार के आदर्श की अपेक्षा करना व्यर्थ है। हाँ, उससे प्रमत्तता और उसके बल पर दुष्टप्रवृत्तियो के उदय की अपेक्षा अवश्य की जा सकती है। वह किसी भी प्रकार से सस्कारशील रहेगा, यह सोचना भी बेकार है।

व्यसन की अनुरक्ति व्यक्ति को अनेक प्रकार से उकसाती है। यह तथ्य निर्विवाद है कि उकसाया हुआ व्यक्ति अपनी स्वय की बुद्धि का उपयोग नही कर पाता है और जो व्यक्ति बुद्धि से परे हो गया या जिसकी बुद्धि विनष्ट हो गई उस व्यक्ति से मानवीय कल्याण की अपेक्षा व्यर्थ है।

व्यसनो ने संसार की दुर्गति को और भी निकट ला दिया है। इसने जीवन को विकट बना दिया है। नित्य प्रति के अनेकानेक उलझावो ने ऐसा चक्र सा बना दिया है कि व्यक्ति व्यसनो के द्वारा ही उलझावो से फँसता है और उनसे उबरने के लिये व्यसनो की ही शरण मे जाता है। एक कभी नही खत्म होने वाला सिल-सिला इस तरह प्रारम्भ हो गया है।

मनुष्य की यह वृत्ति, यह व्यसनप्रियता किसी भी कोण से बुद्धिसम्मत नही मानी जा सकती पर बुद्धि के प्रयोग की सक्षमता उसमे अब रह ही कहाँ गई है। वह और अधिक विवेकहीन होता चला जा रहा है। विवेक सुप्त हो गया है, उसकी जागृति की आज किसी को फिक्र ही नही है।

व्यसनवान व्यक्ति बाह्य और आतरिक दोनो प्रकार से लडखडाता है। किसी भी व्यसन का एक भी वेग या एक गोली या चूर्ण न तो घी है, न तेल है, न शक्कर है, न मधु है। वह व्यक्ति को किसी भी कीमत पर अपने बूते पर खड़े होने की ताकत नही दे सकता है, उसके बल पर तो व्यक्ति लडखडायेगा, पतन के

गर्त मे गिरेगा, उसके बल पर वह अनेक अखाद्य पदार्थों का सेवन करेगा। वह अपने चित्त पर काबू नहीं रख सकेगा। इसके सेवन से वह अभद्र हो उठेगा, अपने ही वस्त्र नोच-नोचकर तार-तार कर देगा। वह भटकाव भरे पथो पर विचरेगा, वह निद्रा अथवा अनिद्रा से त्रस्त होगा। इसके सेवन से व्यक्ति अशक्त होकर भी अपने को चक्रवर्ती सम्राट मानने लगेगा। इसके सेवन से कलह में वृद्धि होगी, ओज नष्ट होगा, समृद्धि समाप्त होगी।

व्यसन का सेवन आदमी को भ्रष्ट बनाने मे सहायक होगा। आदमी सहज लज्जा का त्याग करेगा, निंदित कर्म करने लगेगा, वह शील को भूल बैठेगा। ऐसे-ऐसे दुष्कर्मों की सलग्नता क्या किसी को भी आन्दोलित नही करती। मेरे कहने से शायद असर न हो पर इस कहे को अपने चिंतन का विषय व्यक्ति बना लेवे तो उसे अवश्य ही सही मार्ग प्राप्त होगा। और जब सही मार्ग मिल जायगा तो विवेक पुनः स्थापित हो जायेगा। क्या वह दिन इस धरा पर कभी आयेगा ? अगर इस वक्त भी मनुष्य का चैतन्य न जागा तो उसका यह मानवता के प्रति अक्षम्य अपराध होगा। ऐसा अपराध जिससे फिर मुक्ति असम्भव है।



१३

अहिंसा के हिमायती, कत्लगाहों के समर्थक

दिल्ली भारत का दिल है। वहाँ पर होने वाली धक-धक सारे देश मे सचरणा भर देती है। दिल्ली केन्द्रस्थल है। पर आज उस केन्द्रस्थल पर एक वडी ही कसकपूर्ण स्थिति है। दिल्ली मे एक ऐसा निर्धारण बड़े पैमाने पर किया जा रहा है जो बडा ही हिंसात्मक है। दिल्ली की यमुना पार की वस्ती पटपडगज मे ४५ एकड भूमि पर एक विशाल वूचडखाने का निर्माण किये जाने की योजना है।

भारत की धर्मनीति व राजनीति मे अहिंसा का प्रमुख स्थान है। अहिंसा का मुखौटा धारण कर हिंसा को प्रश्रय देना वडा ही दुष्कृत्य है। इसकी स्पष्ट भर्त्सना, विरोध व आदोलन किया जाना जरूरी है।

छोटे, वडे स्तर पर देश मे कई कत्लखाने है। वम्बई स्थित देवनगर का कत्लखाना भी बड़े स्तर पर पशुओ का हनन करता है। निरीह, मूक पशु भला कैसा विरोध करे ? कत्ल के लिए पक्तिवद्ध पशु निरीह है। किसी का मन द्रवित नही होता, किसी का मन नही पसीजता। अपनी वारी आने पर वह विवश पशु अपनी गर्दन अर्पित कर देता है। उसे वह अपनी नियति मानता है। उस दृश्य को देख किसी का भी मन दहल सकता है। वेचारा पशु इसे अपना पूर्व कर्मयोग मान कर स्वीकार कर लेता है।

अपने प्रति इस क्रूर कृत्य का विरोध करने के लिए वह थोडे क्षण छटपटाता है, कपकपाता है। पर वह विरोध मानव के समक्ष कुछ भी अर्थ नही रखता। मानव अनर्थ रचने मे ही आनन्द का अनुभव करता है।

एक सच्चा प्रसग है कि कलकत्ता के काली मन्दिर मे एक पहाडी व्यक्ति अपनी ओर से वलि देने के लिए एक मेढा लाया। मन्दिर के व्यवस्थापको ने सहर्ष उसे स्वीकार कर वलि देने का उपक्रम प्रारम्भ किया। मन्दिर के प्रागण मे वडी भीड के समक्ष उसकी बलि देने की कार्यवाही शुरू हुई। मन्दिर की ओर से इस

कार्य के लिए नियत वधिक ने गड़ासा उठाया। ऐन वलि देने के वक्त जाने क्या हुआ कि मेढ़ा उछलकर छिटक गया और उसके गले मे वधी डोर को कसकर थामे उस पहाड़ी व्यक्ति का नन्हा शिशु वध-स्थल पर आ गिरा और क्षणो मे उसकी गर्दन छिटक पडी। त्राहिमाम् मच गया। उस अनर्थ पर हर कोई चीत्कार उठा। वात आई गई हो गई। पर चिन्तन यह है कि यदि मानव शिशु पर इतना व्यामोह है तो उस मूक मेढे पर कोई द्रवित क्यो नही होता ? वह भी जीवधारी है, उसमे भी आत्मा का निवास है। वही आत्मा जो सवमे स्थित है।

कत्लखाने से पशु के हर अग-उपाग का व्यापार होता है। प्रमुखता व्यापार की है, मानवता की नही। मास, चर्वी, लहू, जिगर, चर्म सव विकता है। पशु विकता है, मानव क्रेता है, मानव ही विक्रेता है। क्या खूव व्यापार है। यहा तक कहते हैं कि वडे शहरो मे विकने वाली आइसक्रीम भी मासाहार है ? उसमे पशु की चर्वी है जो उसे कड़ा जमाने के लिए उपयोग मे लाई जाती है।

अपने खाद्य व स्वाद के लिए पशुवध स्पष्ट वर्वरता है। कहा जाता है, जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। मनुष्य मे पशुता जगती है। गुरु नानक फरमाते है—

जो रत्त लगें कपड़े, जामा होवे पलीत।
जो रत्त पीवे मानुषा, तिन क्यो निर्मल चित्त॥

कपड़े पर रक्त लगने से वह मलिन हो जाता है। वही घृणित रक्त जव मनुष्य पीता है तो उसके चित्त का निर्माल्य कैसे रह पायगा ?

यदि यह कहा जाय कि हत्या, युद्ध आदि के मूल मे मासाहार है तो अतिशयोक्ति नही होगी। अहिंसा भावना मनुष्य को ऐसी स्थिति मे द्रवित करेगी पर हिंसा भाव वाला निर्दय होगा और कुछ भी कर गुजरने मे चूकेगा नही।

अहिंसावादी का मन मासाहार की कल्पना मात्र से मन मे कपकपी महसूस करेगा। वह मासाहार की वनिस्वत मर जाना पसन्द करेगा। पर यदि उसकी अहिंसा मात्र दिखावे का उपक्रम है तो वह भी उस दुष्कृत्य मे प्रवृत्त होगा। इसी आधार पर अहिंसा की परम्परा के लोग भी मांसाहार की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। यह एक विडम्वना ही है और कत्लखानो के निर्माण मे परोक्ष रूप मे वे भी जिम्मेदार हैं।

निरामिप आहार की अपर्याप्ति की वात महज एक ढकोसला है। आहार उत्पत्ति के ममाधनो पर दूसरी-दूसरी निर्मितियां कर अपर्याप्ति का ढोल पीटना व्यर्थ है। यान्त्रिक विकास व धरती के समुचित उपयोग से आवादी से कई गुना

व्यक्तियो के लिए अनाज उगाना सम्भव है। आमिष आहार वस्तुत महगा भी है।

घोर मासाहारी को भी यदि कुछ दिन किसी कत्लखाने मे रखा जाय व उसमे जरा भी मनुष्यता है तो निश्चय ही उसे मासाहार से घृणा होगी। होता यह है कि मनुष्य की आखो के पीछे क्या कुछ होता है उसका उसे भान भी नही रहता है। मास ऐसी कोई अनिवार्यता नही है कि उसके बगैर आदमी जिन्दा ही न रह सके। जब अनिवार्यता नही है तो ऐसा स्वीकार्य क्यो ?

मास अप्रिय खाद्य है। देखने मे, सूंघने मे अप्रिय है। फलो के टोकरे की सुगन्ध से मास की दुर्गन्ध का भला क्या जोड है ? आप स्वय ही सोच सकते है दुर्गन्ध मे रमने वाला कौन और कैसा होगा ?

किसी ने भी मारे जाने वाले पशु की आर्त पुकार सुनी है ? मनुस्मृति मे उस पशु का यह कथन मर्मस्पर्शी है—

"जो यहाँ मुझे मारता है, आगे (पुनर्भव या पेट मे जाकर) मै भी उसे मारूँगा।"

जीव के प्रति दया भाव रखने वाले ही नही समस्त मानव जाति का यह नैतिक दायित्व है कि वह पशु की हत्या के लिए नए-नए उपकरणो से युक्त कत्लखाने खोलने की बजाय अपना चिन्तन अनाज, शाक आदि के अधिक उत्पादन तथा सवर्द्धन मे लगाए।

दिल्ली मे खोले जाने वाले कत्लखाने का हम हार्दिक विरोध करते है और केन्द्र सरकार से विनम्र अनुरोध है कि वह जनभावना के विपरीत कार्य न करे। साध्वी श्री प्रीतिसुधाजी द्वारा इस हेतु किए गए सत्याग्रह का भी हार्दिक अनुमोदन है और जैन समाज ही क्या सम्पूर्ण मानव समाज को प्रेरणा देना हमारा प्रथम दायित्व है कि वे इस नियोजना का प्रबल विरोध करें।



१४

आवश्यक है बलवंत प्रतिरोध

यह एक परिकल्पना है कि मानव समाज मे नीति का समावेश होगा, वह अनीतिमुक्त होगा दूर तक ऐसे आसार कही भी नजर नही आते । अनीति का चक्र इतनी गति पा चुका है कि उसे रोकने वाला भी उसकी चपेट मे आ जावे ऐसी पूरी सभावना है ।

अनीति सर्वत्र प्रशसित है । उसे पर्याप्त प्रश्रय है, समुचित सरक्षण है और उसके विकास के लिए अवसर है । नित्य-प्रति वह और अधिक विस्तार पा रही है । वह मनुष्य मात्र की रग-रग मे समाती जा रही है ।

तो क्या सारे प्रयास ताक मे रख देना चाहिये, तो क्या इस सभावनाशून्य जगत् मे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना चाहिये । समय और स्थितियाँ तो यही कहती है । लेकिन मै कहता हूँ कि जो प्रवाह से विपरीत चले क्राति उसी के हाथ सभव है । कई ऐसे क्रातिकारी हुए है जिनके शब्द कोष मे असभव शब्द का अस्तित्व ही नही था ।

अब प्रश्न उठता है कि एक सर्वव्यापक बीमारी का निदान किस तरह से हो । कोई भी रुग्णता यदि उसे पूरी तरह खत्म करना है तो पहले उसका समूचा परीक्षण जरूरी है ।

परीक्षण के प्रश्न है—अनीति कहाँ से आ जाती है, अनीति कहाँ पनपती है और अनीति की जडे कहाँ तक पहुँची है । अर्थाभाव, लोलुपता तथा स्वार्थ ऐसे तत्व हैं जहाँ अनीति उपजती है । सत्ता, सग्रहवृत्ति और उच्चत्व की भावना उसे पनपाती है । हर वर्ग, हर सगठन, हर क्षेत्र यहाँ तक कि परिवार, समाज और देश तथा विश्व स्तर तक इसकी जडें जा पहुँची हैं ।

निदान का दूसरा सोपान है उन पर प्रहार हो जहाँ रोग प्रारम्भ होता है । अर्थ वैषम्य उन स्थितियो की सर्जना करता है जहाँ मनुष्य प्रदर्शन करता हुआ

अन्यो मे वितृष्णा जगाता है। अन्यो को हीनत्व का अहसास होने लगता है। वे भी नीति का परित्याग कर जैसे-तैसे अर्थ प्राप्ति का लक्ष्य बना लेते है। प्रहार मनुष्य की लालसाओ पर भी जरूरी है। लालसाएँ असीम हुआ करती हैं। उस असीम की पूर्ति नीतिमन्त रहकर सभव नही। अनीति वहाँ अनिवार्य हो जाती है। मनुष्य के और अनेक स्वार्थ भी आडे आते है। स्वार्थ के वशीभूत मनुष्य अनीति को ही आलोक मानने लगता है, सुख मानने लगता है। ऐसा सुख जो पुनः पुन दु.ख को आमन्त्रित करता रहता है।

मनुष्य को सत्ता सर्वाधिक भ्रष्ट कर देती है। उसके पास शक्ति होती है। शक्ति से मद पैदा होता है और मद नीति-अनीति के भेद को नही देखता। उसकी तो एक ही माँग रहती है कि वह जो चाहे, जैसे चाहे उसकी पूर्ति हो। जहाँ उसमे व्यवधान पडा कि तत्काल ही अपनी शक्ति द्वारा आतक फैला देता है और विरोध करने वाले को कुचल देता है।

किसी मनुष्य के पास आवश्यकता से अधिक का सग्रह है तो वह उसे गलत रास्तो से व्यय करता है। टालस्टाय का कथन है कि मेहनतकश आदमी को दो रोटी और प्याज का टुकडा ही पर्याप्त है यदि वह उससे अधिक का उपयोग करता है तो उसे निकालने के रास्ते भी खोजने मे नही चूकेगा। सग्रह किसी भी स्तर पर पुष्टि नही देता। वह और अधिक तृपा जगाता है। तृषा, ऐसी तृषा जिसमे जरा भी परितृप्ति नही।

मनुष्य का अह बडा बलबान होता है। अह के पोषण के लिए वह क्रूरता के स्तर तक जा पहुँचता है। वह अह की पूर्ति के लिये क्या सही है क्या गलत है इसकी परख खो देता है। जहाँ व्यक्ति परख खो देता है वहाँ औचित्य-अनौचित्य की चर्चा ही वेकार है।

रोग पकडा गया है। रोग के स्रोतो पर प्रहार भी हो गया है। अब अगला कदम रोग से सघर्ष है। किसी भी सघर्ष के लिये जरूरी है शक्ति, जरूरी है सक्षमता, ताकत जरूरी है। निदान ऐसा हो जो आतरिक शक्ति मे वृद्धि करे।

आत्म-वल तथा आत्म-विश्वास के लिये तप, साधना तथा अपनी समझ दरकार है। तप, साधना के जो रूप प्रचारित है या व्यवहृत है उनसे मनुष्य भय खाता है। किसी भी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शनै शनै. सोपान चढते-चढते ही पहुँचना श्रेयस्कर है। शनै शनैः अभ्यास से हर कार्य सिद्ध हो सकता है। जो कार्य सिद्ध हो जाता है वह फिर सहजता मे वदल जाता है।

आज सर्वत्र असहजता है। मनुष्य ने सहजता को खो दिया है। परिणामस्वरूप वह तनावो मे घिर गया है। तनावो ने उसे अशात वना दिया है। अशात

अवस्था मे वह अपना आपा खो देता है। अशांति ने उसे उलझनों मे डाला है। उलझाव उसे और अधिक उलझाते चलते हैं। ऊहापोहो ने उसे ग्रस्त कर दिया है।

हर कोई आज व्यस्त है। जीवन ने गति को धारण किया है। गति के चक्र मे आदमी जल्द कार्य चाहता है। जल्दबाजी ने अनीति को अवसर दिये हैं। या तो रुको, रुके रहो या शीघ्रता के लिये मुआवजा दो। यह मुआवजे की मांग ही अनीति है।

यह तो खैर जरूरी है कि गति के साथ चला जाये पर गति एक तरफ रहे तो वह समस्या पैदा करती है। गति को हर क्षेत्र में लाना जरूरी हो जाता है। केवल एक पक्ष गति व चुस्ती की कामना करे और दूसरा पक्ष गति को, चुस्ती को तिलाजलि देकर आलस्य की डोर थामे रखे और अपने आलस्य को तोडने के लिये अन्य से शक्ति, बल आदि की चाह करे। अपने आप मे यह एक अनीति ही है।

अनीति को मनुष्य ने अपनी वृत्ति बनाया है। मनुष्य की इस वृत्ति को बदलने के लिये एक शक्तिशाली प्रतिरोध जरूरी है। तो आज हर विद्वान, साधु या नेतृत्वकर्ता अथवा समाज-सुधारक का यह दायित्व हो जाता है कि वह प्रतिरोध की शक्ति बढावे। ठीक वैसे ही जैसे किसी रोग के न होने देने के लिये टीके लगाये जाते है। जब तक यह प्रतिरोध न होगा, अन्तर् मे शक्ति का वास न होगा तब तक अनीति को खुलकर खेलने के अवसर मिलते ही रहेगे।



१५

प्रश्न समक्ष है : समाधान खोजिये

कथनी और करनी मे फर्क आज सर्वत्र नजर आता है। होता यह है कि आज के गतिमान युग मे हर व्यक्ति अपना तालमेल बिठाने के लिए स्वय मे गति नही ला पाता है तो 'शार्टकट' अर्थात् छोटे रास्ते अपनाता है। और ये छोटे रास्ते कभी-कभी उसे भटका देते है क्योकि वह उनसे परिचित नही है।

मैं यह नही कहता कि लम्बा और जाना-पहचाना रास्ता ही चलना अनिवार्य है परन्तु छोटे रास्ते की पूर्ण और सच्ची शोध जरूरी है। आप वह रास्ता खोजिये और उस पर चलकर लक्ष्य तक पहुंचिये; परन्तु देखिये कि आपने कही गति को बनाये रखने के लिए गलत आचरण तो नही किया है।

गलत आचरण वाली यह गतिमयता एक दिन हमे ही पीसकर रख देगी, तव विचार होगा कि इससे तो दूर का रास्ता ही अच्छा था। इस दृष्टि से देखे तो यह 'शार्टकट' वेमानी हो जाता है। और शार्टकट का यह व्यामोह ही हमे कथनी मे और तथा कहनी मे और बनाता है।

अब हम विचार करे कि कथनी ही सर्वरूपेण यथार्थ है ऐसा हम कैसे कहे ? करनी ही सब जगह बुरी है इसको प्रचारित करने के लिए हमारे पास क्या प्रमाण है। समय और वातावरण स्थापित आदर्शो को बदलते है। आदर्श के चिंतन मे बदलाव आता है पर मूल धारणा, मूल भूमि नही बदलती है।

प्रत्येक व्यवस्था के कुछ आदर्श होते है। उन आदर्शो का परिपालन जीवन-व्यवहार को सुगठित, सुसचालित बनाता है। अलग-अलग वर्गो या समूहो की स्थिति के अनुसार पृथक-पृथक नियम उप-नियम होते है।

दुविहे धम्मे पन्नत्ते तं जहा—
आगारधम्मे चेव, अणगारधम्मे चेव।

—वीतराग प्रभु ने दो प्रकार के धर्म बताये है आगारधर्म और अणगार

धर्म अर्थात् श्रावकधर्म और मुनिधर्म। दोनो का अपना-अपना महत्व है, पर दोनो की साधना, आराधना पूर्णतः विवेक, श्रद्धा एवं प्रामाणिकता के साथ हो तभी इनमे चमत्कार पैदा होता है।

जीवन के प्रति ऊहापोह मे रमने वाले, आस्था से विपरीत होने वाले, विवेक को बिसारने वाले, अप्रामाणिकता को अगीकार करने वाले जीवन के वास्तविक विकास को अवरुद्ध करते है।

मन, वचन और कर्म से कोई भी श्रावक हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन एव परिग्रह आदि मे निरत नही रहना चाहता, परन्तु व्यवहार रूप मे ये सव बाते दृष्टिगोचर होती हैं तो विचार उठता है आखिर न्यूनता कहां है? आखिर वह क्या विवशता है जो उसे इन सब क्रियाओं मे रम जाने के लिए प्रेरित करती है?

मेरी दृष्टि मे यह न्यूनता अथवा विवशता से अधिक मानव की अतिरिक्त निष्ठा का परिणाम है। मनुष्य अनेकानेक प्रलोभनो से गुथ जाता है। वह अपनी वैयक्तिक चेतना को सर्वोपरि मानने लगता है।

चीटी जैसे अति सामान्य जीव की रक्षा करने वाला व्यक्ति, उस सदर्भ मे विवेक जाग्रत रखने वाला व्यक्ति ही दूसरे पहलू मे परोक्ष या अपरोक्ष रूप मे अपने व्यापार-धन्धे और अन्य क्रिया-कलापो मे भी शोषण और हिंसा को बल देता है तो लगने लगता है कि यथार्थ को अपनाने मे कही चूक हो गई है।

युद्धो की विभीषिकापूर्ण ललक, विलास उपकरणो का अकूत निर्माण और प्रयोग इन सव के मूल मे हिंसा का कितना हाथ है? इससे आज कौन अपरिचित रह गया है? विकास साधनो के निर्माण मे हिंसापूर्ण तरीको का स्पष्ट समावेश है और उनके परिणाम भी हिंसाजनक है। युद्धशस्त्रो की होड, किसी भी शक्ति, फिर चाहे वह अणु भी क्यो न हो, के हिंसात्मक उपयोग को प्राथमिकता आदि मानव के इरादे को कुछ और ही स्वरूप मे उजागर करता है।

शोषण तथा हिंसा छोटे-छोटे स्तर पर भी त्याज्य है परन्तु आज इसे ग्राह्य माना जा रहा है। अधिक व्याज खाने की मनोवृत्ति, अनुचित नफा खाने की चाह, कई अनाथो, निराश्रितो की सम्पति दवा देने का उपक्रम हिंसा के प्राथमिक प्रकार भले हो पर ये प्रारम्भिक सोपान ही अधिक हिंसा की ओर ले जाने वाले है।

सम्भ्रातता दर्शाने वाले रेशमी वस्त्र कीडो के वलिदान के परिणाम है। नरम नाजुक 'काफ लेदर' वछडो की पीडादायक मौत द्वारा पाया जाकर जूता आदि मे प्रयुक्त होता है। आइस्क्रीम आदि के जमाने के लिए चर्वी का प्रयोग आदि कई ऐसी सविधियां हैं जो मनुष्य को मनुष्यत्व से गिराती हैं।

मनुष्य मात्र आजकल दोहरा व्यक्तित्व जीता है। एक ओर तो वह धर्म-स्थानको मे, मन्दिरो मे जाकर श्रद्धा का 'प्रदर्शन' करता है और दूसरी ओर दूकान पर बैठकर असत्याचरण करता है, ठगता है। कार्यालयो मे बैठकर भ्रष्ट-आचरण करता है। अधिकारी बनकर दमन करता है। झूठी गवाहियाँ देता है। पर-स्त्रीगमन करता है व पतित कार्य करता है तो उसके वे प्रदर्शनपूर्ण श्रद्धा कार्य किस कोटि ने रखे जाने चाहिये, मेरी समझ मे नही आता।

मन से पूरी तरह कुटिल और कपटपूर्ण रहकर धर्मस्थानो की सीढियाँ घिसने मे अलाभ ही अधिक है। आप्तो की दृष्टि मे ऐसा व्यक्ति घोर नास्तिक होगा। जो मन्दिर या धर्मस्थानो मे श्रद्धा का ढोग करता है, पर वस्तुत॰ वह सामान्यत॰ अपने आपको नास्तिक कहने वाले से भी गया-गुजरा है। उसकी श्रद्धा अन्धश्रद्धा है, उसकी धर्म प्रक्रिया क्रियाकाण्ड है। मन से जुडा कर्म या क्रिया ही सच्ची आस्था है।

आज वातावरण मे विष व्याप गया है। मनुज मे देवता का अश खोजने वाले आज यह मान रहे हैं कि सबसे बडा वश आदमी का ही है। वृश्चिक और सर्प के वश आज डूब गये लगते है। जो प्रवृत्ति उनकी थी आज मनुष्य ने अपना ली है। मनुष्य का कार्य पागल कुत्ते के काटने से भी ज्यादा दयनीय है।

यह तो हुई श्रावक वर्ग की बात। साधुओ मे शिथिलाचार की खोज आज यत्नपूर्वक हो रही है। मै नही कहता कि शिथिलाचार कतई नही है पर आज के युग के अनुरूप ढलने की क्रिया को शिथिलाचार कहने की बात गले नही उतरती। कभी-कभी दोषारोपण किसी की बढत देखकर भी किये जाते हैं।

कोई साधु-साध्वी अगर पत्र लिखें या लिखावे, तार करवाए, पुस्तको के पार्सल करवाए तो कोई बात नही; पर कदाचित यदि कोई पत्र टपाल मे जाकर डालने का विचार प्रदर्शित करे तो ऊहापोह के साथ साधुता-नाश का नारा लग जाय, गोया उस स्थिति पर जाकर फूट पडने वाला यह कोई टाइम बम है।

प्रवचन के समय हजारो की भीड को देखकर अगर कोई लाउडस्पीकर लाकर रख दे तो समाज का एक वर्ग बौखला उठेगा, बोलने वालो को शिथिला-चारी कहने लगेगा। परन्तु वही साधु यदि पुस्तके छपवाता हो, सामाजिक कार्यो के लिए पैसा इकट्ठा करवाता हो तो उसे धर्म की प्रभावना समझा जायगा। धर्म की प्रभावना के लिए क्या सही है, क्या गलत? इसकी परख का मापदण्ड कुछेक व्यक्तियो की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर हो गया है।

कदाचित् किसी साधु को आपत्ति के समय विवश होकर वाहन का उपयोग करने की डाक्टर सलाह दे तो इससे समाज मे भारी हलचल मच जायेगी। परन्तु

वही साधु यदि बड़ी पत्रिका छपवाकर, पत्र लिखाकर हजारो दर्शनार्थियो को अपने यहाँ बुलाए, जयतियाँ मनाए, अधिवेशन करवाए, चातुर्मास के लिए, पद के लिए, तप के लिए समारोह मे होने वाले आरम्भ-समारम्भ मे जुटे—इसे धर्म की प्रभावना समझना आखिर उचित कैसे है ? क्या उचित है, क्या अनुचित है ? एक बार फिर कहना होगा यह कुछ व्यक्तियो की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर है।

किसी श्रावक ने अगर साधु के पास पोस्टेज टिकट देख लिये तो वह श्रावक उस साधु पर आक्षेप करने लगेगा। सिद्धातत यह सत्य है परन्तु अपनी सस्थाओ के लिए पैसा इकट्ठा करवाए, अपने या अपने गुरुओ के नाम से कोष स्थापित करवाए, शिष्य-शिष्याए बनाने के लिए हजारो रुपये माता-पिता को दिलाए, साथ मे रहने वाले पी. ए. या क्लर्क या रिपोर्टर आदि को पैसा दिलाए तो उसमे क्या उसका पाचवा व्रत खण्डित नही होता ? मेरा कहना यह है कि कोई भी आक्षेप एकागी न हो। वह हो तो फिर सम्पूर्णतः हो। एक क्रिया का विरोध और बदले स्वरूप मे उसका अनुमोदन हास्यास्पद है। विरोध तो फिर पूरा विरोध हो। यह नही कि जहाँ अपना स्वार्थ सधा उसे विरोध के दायरे से अलग कर देना। आत्म-साधना के क्षेत्र मे कठोरता अवश्यम्भावी है पर बाह्य सम्पर्को मे कुछ एडजस्टमेट को शिथिलाचार की सज्ञा देना थोडी ज्यादती है। हाँ, यह अवश्य है कि ऐसे 'एड-जस्टमेट' के लिए बार-बार वातावरण बनाना या उन्ही पर आश्रित रहना साधु के पक्ष की ज्यादती है। ज्यादती किसी भी पक्ष की नकारी न जाए परन्तु ज्यादती को ज्यादती ही माने जाने का हठ उचित नही है। उसके मूल मे भूल भी हो सकती है।

साधु का नियम है कि नीचे देखकर चले। रास्ते मे रजोहरण पूंज कर चले। सही है, यही होना चाहिये। इसे कोई गलत नही कहेगा पर कभी किसी से भूल हो गई तो भयकर दोष मानकर भर्त्सना करना क्या जल्दबाजी नही है ? वही साधु अपने को लाने और पहुँचाने के लिये सैकडो लोगो को आने की प्रेरणा दे तो क्या वह उसी सिक्के का दूसरा पहलू नही है ? कोई भी दोष लगाने से पहले यह देख लेना चाहिए कि वास्तव मे वह कार्य जानते-बूझते किया गया है या उसे नित्य परम्परा बना लिया गया है या जिसे जीवन का अभिन्न अग बना लिया है। तब तो वह अवश्य ही दोषयुक्त होगा।

साधु-साध्वी साबुन-सोडे आदि से कपडे धोये तो समाज का एक वर्ग कहता है कि यह शिथिलाचार है जबकि इसका साधुता मे कोई सम्बन्ध नही है पर साधु के कपडे मे जुँए पड जाये या अन्य जीव पड जाये, फूलन जम जाय, अनन्त जीव पैदा होने लगे तो वह स्वीकार्य है, उससे साधुता भग नहीं होगी। यह दृष्टिकोण विचित्र है और विडम्बना भी।

यह कतई नही समझा जाए कि मेरे स्वर मे द्रोह उपजा है। मै शिथिलाचार की वकालत नही कर रहा हूँ। मैं तो कुछ प्रश्न उठा रहा हूँ जिन पर गुरुजन, समाज के प्रबुद्ध लोग तथा वीतराग प्रभु के आस्थाशील श्रावक विवेकपूर्वक चिन्तन करे। आज के युग मे क्या कुछ परिवर्तन पुरातन परिपाटी मे अपेक्षित है, उन पर सोचे-विचारे। उस समय जब यह सब कुछ निर्धारित किया गया था तब की व आज की परिस्थिति मे काफी अन्तर आ गया है। चिन्तन कर नवनिर्धारण आवश्यक है व बात-बेबात की छीछालेदार से भी बचना जरूरी है।

आज धर्म मे वैज्ञानिकता की तथा विज्ञान मे धर्म की खोज आवश्यक है। बात कुछ अजीब लगती है लेकिन तह मे जाकर देखे तो जो कल धर्म ने प्रतिस्थापित किया आज विज्ञान उसे सिद्ध कर रहा है और कल जिसकी शोध विज्ञान ने की धर्म उसे पुष्टि प्रदान कर रहा है। धर्म और विज्ञान का पार्थक्य अब दूर हो गया है। धर्म से सहयोग कर विज्ञान स्वस्थ होगा और विज्ञान को धर्म का सहयोग मनुष्य को भौतिक आग्रहो से मुक्त करेगा। धर्म और विज्ञान मे अभेदता के तथ्य खोजने होगे तथा उनसे सभी को लाभान्वित करना होगा।

दशवैकालिक मे भ महावीर का एक कथन दृष्टव्य है—विवेक से चलो, विवेक से बैठो, विवेक से खाओ, विवेक से सोओ और विवेक से बोलो, पापकर्म से स्वत ही मुक्त हो जाओगे।

विवेक पर यदि हम अविवेक का मुलम्मा चढा दे तो यह एक अतिरेक होगा। हम जिसे विवेक कहकर प्रचारित कर रहे है, अपना रहे है और अपनाने की प्रेरणा दे रहे है, परख ले कि क्या वास्तव मे वह विवेक ही है। हम विवेक को उन दायरो मे ले आये है जहाँ सकोच है, तुच्छता है। जबकि विवेक सदा औदार्य और सहानुभूति मे समाया रहता है।

स्थापित परम्परा का हमे मान करना है पर यह भी देखना है कि हम उसका गलत अर्थ तो नही लगा रहे हैं। हम दोष देखे, दोष पर झाँके नही। वह एक हीनत्व को प्रश्रय देगा। दोष-निवारण जरूरी है पर दोष पर केवल अगुली उठाकर हँसना बेमानी है।

क्रोध, मान, माया, लोभ एव रागद्वेष से विरक्त होकर स्वस्थ जीवन का निर्माण ही सच्ची सफलता है। आशा है, समाज इस कथन के हार्द को समझेगा। तभी उभरी हुई गलत फहमियाँ दूर हो सकेगी।

☐

१६

उन्माद से बचिए

उन्माद के कई प्रकार है। हर्षोन्माद, कामोन्माद, प्रेमोन्माद, सत्ता का उन्माद, धन का उन्माद, शक्ति का उन्माद, प्रतिष्ठा का उन्माद, विद्वत्ता का उन्माद, क्रिया का उन्माद, युद्धोन्माद आदि-आदि।

उन्माद एक पागलपन है। इसमे व्यक्ति अपना सन्तुलन खो बैठता है और अकरणीय कर बैठता है। एक उन्मादी पर काबू पा सकना बडी टेढी खीर है।

उन्माद राष्ट्र के प्रति भी होता है, परिवार के प्रति भी, सगठन, जाति एव धर्म के प्रति भी। असम, पजाब और श्रीलका के उन्माद भी जातिगत ही अधिक है। यद्यपि असम मे उन्माद का स्वरूप थोडा अलग है पर सही माँग को उत्पातियो व उन्मादियो के हाथ मे सौप देने से वहाँ स्थिति विकृत हो गई है। सरकारी स्तर पर भी उसे राजनीतिक स्वरूप देकर और अधिक जटिल बना दिया गया है।

हर्षोन्माद, प्रेमोन्माद उन्माद के वे स्वरूप है जिनमें किसी अन्य का अनिष्ट नही, अपनी ही अविशष्ट अवधारणाओ को चरम स्थिति तक ले जाया जाता है और भावनाओ के अतिरेक को व्यक्त किया जाता है। इससे कोई लाभ या अलाभ नही। व्यक्ति को इनकी बदौलत अपनी स्थिति स्पष्ट करने का मौका मिलता है।

कामोन्माद व्यक्तिगत स्तर पर कई जटिलताएँ पैदा कर देता है और समूह रूप मे अथवा अन्य से मर्दभित होकर मनुष्य की पाशविकता को प्रकट करता है।

सत्ता का उन्माद व्यक्ति के शोषण के साथ-साथ अपनी श्रेष्ठता की झोक मे अपने अधिकारो को दुरुपयोग की स्थिति तक ले जाकर व्यक्ति व्यक्तियो की स्वतंत्रता का हनन करता है।

धन का उन्माद, व्यक्ति की परिग्रह वृत्ति को बल देता है। प्रदर्शन के आधार पर व्यक्ति अपनी ऐश की वृत्ति को बढावा देकर अन्यो को ललचाता है और उस लालच के वशीभूत व्यक्ति जब अपनी लालसाओ की पूर्ति नही कर पाता है तो सन्तुलन खोकर, चोरी, हत्या आदि मे सलग्न हो जाता है। सामाजिक स्थिति इससे गडबडा जाती है। जो दुष्कृत्य मे सलग्न नही हो पाता वह अपने आप मे घुटकर हीनत्व ग्रहण कर लेता है और आत्महत्या व अन्य प्रकार से अपना असन्तोष व्यक्त करता है।

उन्माद झगडो और फसादो को मौका देता है। मस्तिष्कीय असन्तुलन से मनुष्य अपना विवेक भुला बैठता है और अविवेकपूर्ण कार्यो से अपने को जोडकर व्यर्थ की चिल्ल-पो मचाने लगता है।

उन्माद से उत्पन्न उद्विग्नता व्यक्ति को एकागी बना देती है। व्यक्ति अनिर्णय मे ही रमने लगता है और उसका उद्वेग उसे भटका देता है। वह सन्तोष का पल्ला छोड देता है।

उन्माद को लोग दैवी प्रकोप से भी जोडते है। किसी तन्त्र-मन्त्र के कारण भी मनुष्य अपना सन्तुलन खो देता है। पर आधुनिक वैज्ञानिक प्रकोप को मनुष्य की किसी शारीरिक न्यूनता या अस्वस्थता से जोडते है। फिर भी कुछ आत्मिक प्रभावो को नकारा भी नही जा सकता।

उन्माद से ग्रस्त आदमी से कोई उलझना नही चाहता क्योकि उससे खुद उसको घातक प्रहार सहना पड सकता है। इतिहास मे प्रताप और शक्तिसिंह के बीच-बचाव मे राजपुरोहित का हनन वर्णित है। कामोन्माद से ग्रस्त रावण द्वारा जटायु के प्राण हनन की कथा रामायण मे आती है।

दुर्योधन के युद्धोन्माद ने पाण्डवो पर युद्ध लाद दिया और महाभारत युद्ध मे मानवीय शक्तियो का ह्रास हुआ तथा भारत जो विज्ञान मे बहुत बढ-चढ गया था शून्य में आ गया। ऋषि-मुनियो द्वारा अर्जित ज्ञान तथा असीमित शक्तियाँ युद्ध मे प्रयुक्त होकर विनष्ट हो गई।

इसी प्रकार ज्ञान अथवा क्रिया का उन्माद भी मनुष्य को बड़ी तीव्रता के साथ पतन की ओर धकेल देता है। हम उत्कृष्ट है और वे निष्कृष्ट है, हम महान है वे कुछ भी नही है, ऐसी अभिव्यक्तियाँ उन्माद की ही प्रतीक है।

उन्माद का ही एक स्वरूप है दीवानगी। यह दीवानापन प्रेम सन्दर्भ मे भी होता है और अन्य सन्दर्भो मे भी। यदि दीवानापन रचनात्मक कार्यो मे होता है

तो घातक नही होता, पर दीवानापन सकुचितता लिए होता है तो घातक ही सिद्ध होता है।

जहाँ गति है वहाँ उन्माद ज्यादा होता है। गति से खून मे गर्मी आ जाती है, मनुष्य अपनी प्रशाति को भूल जाता है। वह बात-बात पर तुनक उठता है।

उन्माद के जातिगत रूप मे जरा-सी बेपरवाही से दंगे तक की स्थिति बन जाती है। खून-खच्चर, एक-दूसरे के खून की प्यास जाग उठती है।

आज हम कोई भी अखबार उठाकर देखे तो उसमे सम्मिलित ९० प्रतिशत समाचार विभिन्न प्रकार के उन्मादो से ही सन्दर्भित है। आज के अधिकाश मनुष्य किसी न किसी प्रकार के उन्माद से ग्रस्त है।

वैज्ञानिक शोधो ने उन्माद के लिये चन्द्रमा के आकर्षण को भी जिम्मेदार बताया है। उत्तर की दिशा मे सिर कर सोने का भी मस्तिष्कीय प्रभाव बतलाया गया है। इस प्रकार उन्माद केवल व्यक्ति के अपने स्वभाव या वृत्ति पर ही निर्भर नही है, वरन बाह्य तत्व व प्रकृति भी उसमे प्रभाव डालती है।

उन्माद एक ऐसा मवाद है जो स्थिति मे सड़न पैदा कर देता है। और वह सडन परिस्थिति के अनुसार परिवेश को गलाता चलता है। जीवन का दर्पण चटक जाता है, एव टूटन व्याप जाती है।

उन्माद एक ऐसी तमन्ना जगाता है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य कुछ भी ऐसा करना चाहता है जो एक नयापन लिये होता है, पर यह नयापन ताजगीपूर्ण ही हो, जरूरी नही। वह नयापन एक गहरी विकृति भी लिए हो सकता है। और यह विकृति ऐसी चाह लिये हो सकती है जो एक अनचाहा, अनसोचा रच सकती है।

उन्माद मे एक गहन गतिशीलता हुआ करती है। और सभी जानते है कि शीघ्रता के निर्णयो मे एक ऐसी गति होती है जो विवेकहीन होती है। और जिस निष्कर्ष मे विवेक नही होता है एक सीमा पर पहुँचकर वह टूट जाता है और उसके प्रति एक पछतावा होता है।

उन्माद के एक नही अनेक सहयोगी उपक्रम हैं और उनमे प्रमुख है नशा उकसाना। एक प्रकार के सम्मोहन से व्यक्ति उमगता है। उन उपक्रमो के बल पर मूर्खता का एक क्रम ही प्रारम्भ करता क्रियाशील होता है।

उन्माद एक ऐसा मटमैला रग है जो वीभत्स है और इन रगो को गदराया जाय तो एक विकृत स्वरूप ही उभर सकता है। और वह वीभत्सता हमारी जिन्दगी मे एक अनचाहा भय भरने में समर्थ है।

उन्माद एक बेचैनी है, एक अन्तहीन छटपटाहट है और यह छटपटाहट व

बेचैनी हमको एक भटकाव की ओर अग्रसर करती है और यह भटकाव हमे लक्ष्यों से परे ले जाता है, एक छलावा बन जाता है।

उन्माद एक तलब का रूप भी अक्सर ले लेता है और इस तलब के अतर्गत मनुष्य मे एक ऐसी वृत्ति पनपती है जो जडे जमाती है और वे जडे व्यक्ति को हमेशा उसी तलब की पूर्ति के लिए बेचैन करती है, उकसाती है।

उन्माद की अवस्थिति सर्वत्र है, इसके कई स्तर है। कही यह शनै शनैः बढता है और कही क्षण भर मे प्रभावशील होने वाला होता है। अर्थात् कही यह विकृति धीरे-धीरे लाता है तो कही तत्काल प्रभावी हो जाता है।

जो भी हो उन्माद का हर स्तर ही त्याज्य है। यह कभी भी जीवन का अविभाज्य अग न बने यह प्रयास बडा ही जरूरी है। इससे बचाव व छुटकारा पाने मे ही जीवन का सार है।



१७

समाज को विकृतियों के घेरे से मुक्त करो !

मनुष्य जन्म की प्राप्ति महादुर्लभ है। इस जन्म की प्राप्ति के लिए बडे-बडे देव भी तरसते है। लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुनियाँ मे मनुष्य, मनुष्य से अधिक भयभीत है। उसे प्रकृति से मिलने वाले कष्टो से शिकायत नही है। उन कष्टो की सख्या नगण्य है और उनके निराकरण के लिए मनुष्य को मनुष्य का यथावसर उचित सहयोग मिलता रहे तो उन प्राकृतिक कष्टो को भी सुगमता से शान्ति मे परिवर्तित किया जा सकता है। लेकिन प्रायः होता यह है कि मनुष्य के द्वारा ही मनुष्य को कष्ट दिया जाता है।

मनुष्य अपने व्यक्तित्व मे परिवार, समाज, देश और विश्व आदि अनेकानेक रूपो को छिपाये हुए है। मनुष्य का जीवन एक ऐसा बहुरंगी चित्र है जिसमे विविध रग यथास्थान अपना-अपना महत्व रखते है। उस बहुरगी चित्र मे ऐसा कोई रग नही है जिसकी उपेक्षा करके चित्र की सुन्दरता को सुरक्षित रखा जा सके। लेकिन उन सभी रगो को परस्पर एक दूसरे से शिकायत है।

पारिवारिक जीवन देखिए। पिता-पुत्र सास-बहू, पति-पत्नी, भाई-भाई आदि सभी इसमे वँधे हुए है, लेकिन वे सभी एक-दूसरे से आतकित है। प्रत्येक सदस्य की अपनी शिकायते है।

सास को बहू से यह शिकायत रहती है कि वह मेरी आज्ञा का पालन नही करती है, छोटी-छोटी बातो को लेकर सदैव लडती-झगडती रहती है, मुँह-तोड जवाब देती है, उसकी अन्य बुराइयो को कहाँ तक गिनाऊँ यहाँ तक कि वह मेरे सेवानिष्ठ पुत्र को भी मेरे विरुद्ध बहकाती है।

इधर बहू को सास से यह शिकायत है कि सास मुझे क्षण भर भी चैन से नही रहने देती है, जब देखो तब किसी न किसी बहाने डाँटती रहती है, हर वक्त

मेरे माता-पिता एव पीहर-पक्ष वालो को कोसती रहती है। दिल मे चुभ जाने वाले व्यग वचनो की भी सदैव वर्षा करती रहती है। चुप रहूँ तो भी कहाँ तक ?

पति को पत्नी से यह शिकायत रहती है कि—यह मेरा सम्मान नही करती है, मेरे स्वास्थ्य आदि का ध्यान नही रखती है, चाहे मै कैसी भी स्थिति मे होऊँ लेकिन श्रीमती जी तो अपनी फरमाइशे पेश करती ही रहती है। तो पत्नी को भी पति से शिकायत रहती है कि—ये मेरी बातो पर ध्यान नही देते है, जब भी मै इनसे अपनी मनपसन्द वस्तु या गृहस्थी सम्वन्धी आवश्यक वस्तुओ को खरीद लाने को कहती हूँ तो उत्तर मिलता है कि पैसे नही है। तथा मेरी हर बात को सुनी—अनसुनी करने की आदत-सी बन गई है। अब भला, मेरा भी इसमे क्या कसूर है ?

बस इसी तरह पिता को पुत्र से शिकायत है और पुत्र को पिता से। दोनो एक दूसरे को अपना मार्ग-कटक मानते है। छोटा भाई, बडे भाई की शिकायत करता है और बडा भाई छोटे भाई की शिकायत करता है। दोनो परस्पर एक-दूसरे को आँख दिखाते है। इस प्रकार परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपने ही सदस्यो से डर है, भय है, शिकायत है।

सामाजिक क्षेत्र भी इस रोग से अछूता नही रहा है। छोटे और बडे, वृद्ध और वयस्क अपने-अपने ढग से सभी एक-दूसरे की शिकायत करते है। बुजुर्गो की वयस्को के प्रति यह धारणा है कि—वयस्क हमारी बात नही मानते है। अनुभव-हीन होने से समाज को रसातल की ओर लेजा रहे है। बुजुर्ग वर्ग को वयस्क आदर की दृष्टि से नही देखते है तथा अपने जमाने की याद दिलाते हुए कहते है कि वह युग कितना स्वर्णिम युग था जब हम अपने से बड़ो की मान-मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। आज की शिक्षा ने तो युवको को और भी अधिक गलत दिशा की ओर भटका दिया है।

नवयुवको की शिकायत रही है कि—इन बुजुर्ग वर्ग के रहते हुए समाज की गतिविधियाँ प्रगति नही कर सकेगी। हम जो भी नवीन कार्य करने को प्रयत्नशील होते है, वही इन बुजुर्गो की रोक-टोक हमारा सिर-दर्द बन जाती है। बुजुर्ग चाहते है कि हम भी इनकी सडी-गली परम्पराओ की लीक पर चलते हुए पुराने रीति-रिवाजो को पीटते रहे। इन्हे क्या मालूम कि आज युग कितना बदल गया है और ये आदिम-युग के बाबा अभी भी अपने युग की प्रशसा करते हुए नही थकते। इनसे प्रेरणा ले भी तो क्या ? ये तो हमे ऊपर उठने, सोचने-समझने का अवसर ही नही देते। हमारी उन्नति मे रोडे बने हुए है।

आइये ! अब जरा देश के मैदान को भी देखले ! राजनीति के कण-कण मे शिकायत के विषाक्त कीटाणु घुलमिल गए है। जन-तन्त्र का युग है। अत जनता

शासन की आलोचना करती है कि—सत्तारूढ दल ईमानदारी से अपना दायित्व नही निभा रहा है। वह अपना और अपने वालो का पेट भरने की उधेड-बुन में है लेकिन जनता के दुःख-दर्द को दूर करने की ओर शासन का जरा भी ध्यान नही, और इधर शासक दल का भी यही स्वर है कि—जनता हमे सहयोग नही देती है। हर कार्यो मे कुछ न कुछ गलती निकालने की कोशिश करती है।

इसी तरह दुकानदार को ग्राहक से और ग्राहक को दुकानदार से, मालिक को मजदूर से और मजदूर को मालिक से, शिक्षक को शिक्षार्थी से और शिक्षार्थी को शिक्षक से शिकायत है। जो बात एक राष्ट्र के बीच है, वही स्थिति विश्व के एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र के बीच बनी हुई है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर यही दोषारोपण कर रहा है कि—हम तो विश्वशान्ति विश्ववधुत्व की रक्षा करना चाहते है, लेकिन दूसरे राष्ट्र तोड-फोड की आदत अपनाए हुए है। अभिप्राय यह है, कि—मनुष्य को मनुष्य से शिकायत है, प्रकृति से नही।

अब प्रश्न यह है कि इन शिकायतो का समाधान हो सकता है या नही? यह तो मान कर चलना होगा कि रोग है तो उसकी दवा भी है। जहाँ चाह है तो वहाँ राह भी है। यदि मनुष्य में विवेक है तो वह उसका सही उपयोग कर सकता है। यदि वह सही तरीके से वुद्धि का प्रयोग करे तो सभी कुछ वदला जा सकता है। इसके लिए दृष्टि वदलना है सृष्टि नही, और दृष्टि वदलने के लिए यह जरूरी है कि—वह अपने सुख-दु ख के साथ दूसरो के सुख-दु.ख को भी समझने का प्रयास करे।

इसी वात को भगवान महावीर के शव्दो मे यो कहा जा सकता है—

सव्वेंसि जीवाण, सव्वेंसि सत्ताणं
असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं।

१८

आज 'लाभ' बड़ा है, धर्म नहीं

जैन किसी जमाने मे यह एक वडा नाम था। जैनो का उस समय वडा सम्मान था। उनके आचरण, तथा धर्मसम्पन्नता कइयो के लिए ईर्ष्या का विषय थे। यह बात नही कि, उस समय उनमे कतई विवाद नही था पर जो भी था, वह वडा सयत था और यू अपवाद भी थे पर कुल मिलाकर जैन-धर्म के डके वजते थे।

एक पिता जो सर्व-सम्पन्न रहा हो, धन-धान्य से भरपूर रहा हो, जिसकी बडी शोहरत रही हो, धर्म को जिसका वडा संवल मिला हो, उसके वाद जरूरी नही कि उसके वशधर उसकी सम्पन्नता, उदारता को कायम रखे या रख सके वहुधा तो वे पिता के नाम की खाते है और अनेक प्रकार की कुटेवो मे पड जाते है। कारण उस धन-धान्य मे उनका श्रम कहाँ लगा है। उन्हे तो वह सेत मेत मे ही मिल गया है।

धर्म की भी आज यही स्थिति हो रही है। आज उसकी अपूर्वता को सभी ने सहज ही पा लिया है। उसकी चका-चौध से सव ग्रस्त है। उसके अनुरूप होने की सक्षमता भला किसमे है।

भगवान महावीर ने जैनो को न जन्मना माना है, न उसके प्रति अवहेलना वालो को जैन कहा है, उन्होने तो सभी को कर्म से जो परिपालन हो रहा है उसी वर्ग का माना है। पर भगवान महावीर के इस विश्लेपण को हमने सर्वथा नकार दिया है। कर्म से भले जो कुछ भी कर रहा हो, सर्वथा विपरीत धारणा लिए हुए ही फिर भी वह जैन है। जैन उसके लिए जवर्दस्ती सा हो गया है। परिणामत· जैन विभूपण तो सवको प्रिय है क्योकि इसमे एक उज्ज्वलता है, श्रेष्ठता है, परन्तु उसके आचरण मे कहाँ है वह उज्ज्वलता, वह श्रेष्ठता ?

क्या इतना सहज है जैन होना ? वे व्रत, वे नियम, वे आदर्श अपनाने का

पात्र हर कोई विना प्रयत्न के भला कैसे हो सकता है ? भला नाम से जैन होने भर मे क्या सार है ? ऐसे लोग तो सही अर्थ में जैनधर्म के भार है ।

शहरो के बड़े-बड़े सितारो वाले होटल, सामिष भोजनालय किनके वल-बूते पर चल रहे हैं इस तथ्य से, मै सोचता हूँ, सभी परिचित है । माँसभोजी एक वड़ा वर्ग है, पर यह वर्ग उस मद मे विशेष खर्च कर पाने मे सक्षम नही है । शाकाहारी वर्ग ही मासभोज के मद मे प्रवृत्त है और उसी की पूर्ति के लिए, उसी वर्ग की सन्तुष्टि के लिए पशु-पक्षी पर छुरी चलती है । अप्रत्यक्ष रूप से वे हिंसा के लिए जिम्मेदार होते हैं।

गुजरात मे कहते है कि वहा मास के प्रति रुझान कभी वहुत कम था पर आज वहा जगह-जगह व्यस्त बाजारो आदि मे अण्डे के आमलेट व मासयुक्त टिकियाओ को वडी भरमार है ।

आज जैनियो ने मूल-तत्व भुलाये है और उन्हे अपने स्वार्थ मे ही सत्व नजर आता है । अभी-अभी एक समाचार वड़ी सुर्खियो मे रहा कि एक जैन व्यवसायी ने व्यावसायिक लाभ हेतु चर्बी मिश्रित वनस्पति का विक्रय किया है ।

तो आज 'लाभ' बडी चीज है, धर्म नही । व्यक्ति, आज व्यक्तिगत लाभ के लिए कुछ भी अपनानेमे, करने मे हिचकता नही है । कोई चोर हो, तस्कर हो या और किसी भी प्रकार के अवैध कार्यो मे लगा हुआ है उसकी हिचक खत्म हो गई है क्योकि वह जानता है कि अपने धन के वल पर वह सव कुछ खरीद सकता है । अपने अनुकूल व्यवस्था कर सकता है । धर्मगुरुओ की भी रुझान ऐसे व्यक्तियो के प्रति विशेष रहती है क्योकि वे धर्मगुरुओ, सन्तो की प्रतिष्ठा-वृद्धि के आयोजनो, प्रकाशनो आदि मे धन का भारी योग दे सकते हैं ।

पिछले दिनो चर्बी काण्ड वहुत अधिक चर्चित रहा । वनस्पति मे गाय की चर्बी मिलाने का यह प्रकरण कइयो को पश्चात्ताप की मुद्रा मे ले आया है । दुर्भाग्य से इसमे एक जैन व्यक्ति का जुडाव पाया गया है । यह प्रकरण इतना विस्तार पा गया है कि इसमे जैन धर्म के प्रति कइयो के मन मे हेय भाव जागा है तथा सरकार को भी इसने दहला दिया है । विपक्षियो ने इसे मूल राजनैतिक मुद्दा बनाया है । सरकार लाख लीपा-पोती कर रही है पर जनसाधारण मे वनस्पति के प्रति एक सशय भाव जाग उठा है । वनस्पति के उठाव में कमी आगई है । ताजे शुद्ध घी के भाव वढ गये हैं । मतलव यह कि जीवन मे एक जवर्दस्त तूफान एव उवाल-सा आ गया है ।

जैन दर्शन मे पारस्परिकता, सद्भाव, उदारता आदि की दृष्टि है, पर वह दृष्टि आज कहा, कितनी दृष्टिगोचर हो रही है । आज तो वात-वेबात, मतभेद, कलह, विग्रह आदि ही दृष्टि मे आ रहे हैं । क्या यही था भगवान महावीर का अभिप्रेत ?

वैसे यह सुख का विषय है कि जैनो मे पच्चीस-पचास वर्ष पूर्व जो कट्टरता व संकीर्णता थी वह आज नही है, पर उसके स्थान पर उदारता के बावजूद कुछ नये वितण्ड खडे हो गये है जो सभवतः उन सकीर्णताओ से भी अधिक घातक है।

यह भी एक अच्छी वात है कि कितने ही स्वार्थो एव जजालो के बावजूद भी सन्तों के प्रति श्रद्धा जैनो मे विशेष है। परन्तु यह सन्त श्रद्धा उन्हे पूर्ण रूप से पता नही क्यो, धर्म से नही जोड पाती। लगता है, धर्म से इतर प्रभाव ज्यादा धन व आकर्षण का है। परन्तु व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि ये भडकीले आकर्षण बहुत ही कम उम्र के होते है। मुलम्मा उतरते ही आकर्षण झीने पड जाते है। तार-तार हो जाते हैं और तव उभरता है विकर्षण। और तव उपजती है व्यथा और तव पनपती है अशाति !

इस व्यथा, इस पीडा और अशाति से केवल धर्म ही बचा सकता है। धर्म की शरण मे सन्तोष है, तुष्टि है, समृद्धि है। यह एक सोचने का विषय है कि जैन दर्शन अपने आप में परिपूर्ण है, इसमे समाधान ही नही, नई समझ भी है। काल के हिसाव से वाह्य परिवर्तनो के इसमे पूरे अवकाश है परन्तु ये बाह्य परिवर्तन मूल धर्म से जुड़े तो रहने ही चाहिए। आज यह जुडाव मूल-धर्म से जुदा हो रहा है इसीलिए विकृति का प्रवेश हो रहा है।

मेरा खयाल है जैन दर्शन के हार्द को सही रूप मे प्रकट किया जाये। उसे प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया जाये और दूसरी ओर इसके सभी जिज्ञासुओ को भी सभी वातायन खुले रखकर इसमे पैठ जाने की तत्परता लिए हुए होना चाहिए।

चाहे चर्वी काण्ड हो या और कोई कर्मकाण्ड ! जैनो की प्रतिष्ठा पर आच आने से इस महान धर्म के प्रति अवहेलना-भाव ही उदय होगा। यह समझ लेना चाहिए कि किसी को भग करने मे अपनी ही अभद्रता प्रकट होती है। हर समूह मे कई लोग ऐसे हो सकते है जो अपनी स्वार्थ-नीति के कारण अकरणीय से भी जुड सकते हैं पर उससे दर्शन का जरिया समाप्त हो गया हो यह समझना भारी भूल है। जो गलत है उनकी भर्त्सना जरूरी है और उन्हे उसका समुचित प्रायश्चित्त देना भी आवश्यक है पर उन कुछ के कारण एक दर्शन को नकारा नही जा सकता।

पुन. दोहराऊँगा कि भगवान महावीर ने कर्मणा ही जैन माने है। जो व्यवहार मे जैन तत्वो को नकारते है उन्हे जैन कहना ही त्रुटिपूर्ण है। जैन विवशता वश वने रहने की वजाय जैन दृष्टि भावना से जुडे तभी जैन दर्शन के स्वरूप को द्योतित कर सकेगे। आज यही श्रेष्ठ है।

१६

महावीर के नाम का नाटक कब तक?

महावीर का नाम लेने मे हम गौरव का अनुभव करते है। क्यो? इसलिए कि यदि महावीर का नाम न लिया तो हमे दो कौडी को भी कोई न पूछेगा। कहिए, सच है न यह सब बात?

मै मुनि हूँ। मुनि जीवन की अतरगता को अच्छी तरह समझता हूँ। अतः निर्भीकता से कहने का मुझे यह अधिकार है कि गृहस्थो मे महावीर के प्रति आस्था है। मूलत. गृहस्थ महावीर का भक्त है। साधुता के प्रति वह दूसरे नम्बर पर आस्थावान होने को तत्पर रहता है।

परन्तु साधुओ मे प्रतिक्रमण को लेकर विचार-भेद है। प्रार्थना और स्तुतियो को लेकर दुराग्रह है। शिष्य परम्परा को लेकर बेअत भेद है। हर छोटी-छोटी बातो को आधार बनाकर श्रमण वर्ग बहुत बडे-बडे भेदो की दीवारें खडी किए जा रहा है। गृहस्थ है कि कही-कही दीवारो के बाडो मे घिरा विवशता का अनुभव करता-करता घुटता जा रहा है।

साधु द्वारा महावीर का नाम लिया जाना उसके अस्तित्व का आधार बनता जा रहा है। गृहस्थ द्वारा महावीर का पुकारा जाना उसकी आस्था का आधार है। इस स्थिति का जिम्मेदार साधु-समाज है। होना तो यह चाहिए था कि महावीर स्तुति करते हुए साधु कृत-कृत्य हो जाता। पर आज वह कृतघ्न हुआ जा रहा है। स्पष्ट हे कि उसमे सम्प्रदायवाद की सडाध फूट पड रही है। प्रतिक्रमण के प्रति उसके मन मे आग्रह है कि जो मै कहता हूँ, जो करता हू, करता आया हूँ, वही सत्य हे। शेप सब गलत है। असत्य है।

शिष्यवाद तो उसके प्राणो मे गन्ध की तरह समा चुका है। वह नही चाहता कि एक नियता आचार्य के शिष्य बनते रहे। शिष्यवाद के इस विप मे वह इतना अभिन्न हो चुका है कि इसके अभाव मे वह मानने लगा है कि उसका अस्तित्व ही नष्ट हुआ जा रहा है। इन सब स्थितियो के होते क्या मै सच कहने

की हिम्मत कर सकता हूँ कि साधु-समाज महावीर को मात्र अपनी प्रतिष्ठा के लिए याद करता है। इस अवस्था मे प्रवचन मचो पर महावीर स्वामी का जयनाद क्या छल-मात्र नही कहलाएगा ?

यदि ऐसा नही है तो श्रमण-सघ का गठन हुए तीन दशक होने जा रहे है क्यो नही एक आचार्य के शिष्य बने अब तक ? क्यो प्रतिक्रमण और प्रार्थनाओ मे भेद-रेखाएँ विद्यमान है ? क्या कारण है कि आज तक साधु-समाज सवत्सरी महापर्व का सर्वसम्मत एक निर्णय नही कर सका ?

वर्षो बीत गए ध्वनिवर्द्धक यन्त्र का प्रयोग भी सिर-दर्द बना हुआ है। कुछ साधुओ का कहना आज भी यह है कि ध्वनिवर्द्धक का प्रयोग साधुत्व के साथ खिलवाड है। वताइये, इतन मत-भेदो के बीच साधु समाज महावीर के नाम की दुहाई देकर अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने का नाटक नही रचे जा रहा है तो और क्या कर रहा है ?

आचार-शैथिल्य के गीत गा-गाकर साधु गृहस्थो के दिल-दिमाग मे जीवित रहना चाहता है परन्तु साधु समाज साफ तौर पर यह जान ले कि आज का गृहस्थ अब उतना अज्ञानी नही रहा कि उत्कृष्ट आचार की मनोहर मुरली सुनाकर उन्हे सगीत का आनन्द दिया जा सके। वह स्वय जानता है कि उत्कृष्ट आचार, आचाराग आदि आगम ग्रन्थो मे अकित है। उत्कृष्ट आचार पालन करने वालो को किसने बरजा है आज तक ? साधु तो यह मानकर उत्कृष्ट आचार की दुहाई देते है कि गृहस्थो ! तुम हम उत्कृष्ट आचारवान साधुओ मे आस्था रखो। दूसरे साधुओ मे साधुत्व नही है। हमारे अलावा दूसरे सव साधु शिथिलाचार वाले है।

तीन दशक का श्रमण सघीय इतिहास, श्रमण सघ मे दरार पैदा करने वालो को क्षमा नही कर सकता। भारत की स्वतन्त्रता का इतिहास वलिदानो का इतिहास है। इसी प्रकार श्रमण सघ का इतिहास भी महावीर मे अनन्त आस्था रखने वाले साधुओ म निर्ममत्व भाव की महावीर-पूजा का इतिहास है। सैकडों साधुओ ने समत्व की समिधा अर्पित की है श्रमण सगठन के लिए। संगठन के पक्षकार साधुओ ने एक शिष्य परम्परा के लिए जो वलिदान किए हैं उन अमर वलिदानो को विघटन के वीज वोकर कलकित न करे।

महावीर जयन्ती का स्मरण कर आज मैं अपनी दैनिकी का यह पृष्ठ अकित कर रहा हूँ। श्रमण सघ का प्रत्येक सदस्य उपर्युक्त सदर्भ मे महावीर के प्रति, उनकी आचार-निष्ठ परम्परा के प्रति, कितना आस्थावान है—हो रहा है और होगा, मै प्रतीक्षारत हूँ। देखना चाहता हूँ एकता की दिशा मे वह कितना आस्थावान है महावीर मे !



२०

पशु-हत्या की चरमीति मनुष्य-हत्या

कवीर का कहना है—

मांस आहारी मानवा, परतछ राक्षस अंग ।
तिनकी संगति मत करो, परत भजन में भंग ।।

निश्चय ही यह वर्वरता है कि मानव अपने आहार के लिए जीव की हत्या करना अनिवार्य मानने लगा है। यह एक प्रकार से क्रूरता, जघन्यता और अहम्मन्यता का ही तो प्रमाण रूप है कि क्षुद्र जीव को नृशसतापूर्वक अपने आहार मे सम्मिलित कर लिया गया है।

अण्डे अर्थात् किसी भी जीव के प्रारम्भिक स्वरूप को लोग मासाहार मे नही गिनते अथवा कुछ लोग निषेचित अण्डो को यानी जिन अण्डो से पुनः जीवोत्पत्ति नही होती है उनको मासाहार मे नही गिनते। परन्तु ये सव सुविधा के तर्क है। अपने तर्क से व्यक्ति एक वार तो कुछ भी सिद्ध कर देता है। यह एक प्रकार का उक्ति वैचित्र्य है पर ऐसा वैचित्र्य सही हो ही, जरूरी नही। वह एक विभ्रम हो सकता है। अण्डा उपजाऊ या अनउपजाऊ दोनो ही सर्वथा त्याज्य है।

मत्स्य मुर्गी पालन व वूचडखानो के निर्माण की आज भरमार है। यह एक दयनीय स्थिति है। सरकार इनमे करोडो रुपयो का अनुदान व योग देती है। उसे एक योजनापूर्ण तरीके से वढावा दिया जा रहा है। एक अहिंसक सरकार के ये कार्य स्पष्टतः एक विडम्वना है।

खाद्य सामग्री की न्यूनता के फतवे वेमानी है। उतना ही ध्यान यदि एक सुनियोजित योजना द्वारा वानस्पतिक उत्पादन मे दिया जाय तो आज भी यह एक योग्य निर्णय होगा। किसी भी स्थिति मे अपने जीवन के लिए अन्य जीव का भक्षण मानवीय धरातल पर जरा भी नही टिकता।

अगर क्षण भर भी हम यह मान लें कि मास, मछली, अण्डा, मदिरा, प्याज, लहसुन से हमे जरा भी शक्ति मिली है तो दूसरी ओर ये वस्तुएँ मनुष्य की

वासना को जाग्रत करती है। परिणामस्वरूप वह अनैतिक कार्य की ओर आकर्षित होता है।

परन्तु यह बल वाली बात भी बेमानी है। हाथी, घोडा, ऊँट, दरियाई घोडा, वृषभ, महिष अत्यन्त बलशाली जीव क्या शाकाहारी नही है? यदि हम देखे तो मासाहारी जीवो मे बल नही, कुटिलता ही अधिक मिलेगी।

मासाहारी मे बल खोजना व्यर्थ है। मासाहार मनुष्य के हृदय की कोमल भावनायें विनष्ट करता है। बल के स्थान पर वह भय, आतक, बेचैनी, उन्माद या आवेग लाता है। वह मनुष्य मे बल के स्थान पर आलस्य, जडता व मूढता लाता है।

इससे मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ उग्र हो जाती है। शाकाहार या अन्नाहार हमे सौम्य सौहार्दपूर्ण बनाता है।

श्री जे डब्ल्यू केसर का कथन द्रष्टव्य है—

"हम वास्तव मे रोटी नही खाते। हम पृथ्वी द्वारा प्राप्त की जाती और दानो मे बदल जाती रोशनी खाते है।"

मास या अन्डे को स्वाभाविक रूप से देखने मे भी घृणा उपजती है। यह देखने, सूँघने मे अप्रिय लगता है। यानी उसके रूप मे अप्रियता को ही बढाया जाता है। यह तामसिक भोजन के अन्तर्गत आता है। तामसिक भोजन के दुर्गुणो से हर कोई भलीभाँति परिचित है।

इसे कौन नकार सकता है कि आज जो पशु-पक्षियो की हत्या कर जी रहा है कल वही मनुष्यो की हत्या भी बेखटके कर सकता है। निश्चय ही आहार का यह स्वरूप अत्यन्त घृणित एव जघन्य है।

वैज्ञानिक खोजो ने भी अन्डो के प्रयोग की विभीषिकापूर्ण स्थितियो की अवगति दी है। कृषि विभाग फ्लोरिडा (अमेरिका) के हैल्थ बुलेटिन मे वर्णित है कि ३०% अण्डो मे डी० डी०टी० पाया गया। डा० ग्रास व प्रो० डेविडसन के निष्कर्ष है कि अण्डो मे ४ ग्रेन कोलेस्टरोल रहता है जो हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, गुर्दो की बीमारी, पित्त थैली मे पथरी का कारणभूत होता है। अण्डे मे कार्बोहाइड्रेटस नही होता व कैल्शियम भी बहुत कम होता है यह बतला रहे है डाक्टर मैक्कालम। उनका कहना है इससे पेट मे सडन पैदा होती है।

डॉक्टर विलियम व ग्रास का कथन है कि अण्डे की सफेदी मे एवीडिन नामक भयानक तत्व होता है जो एग्जिमा पैदा करता है। डॉक्टर ग्रास ने यह भी दर्शाया है कि मुर्गी के अण्डो से टी० बी० व पेचिस की प्रबल सम्भावना है।

डा० गोविन्दराज का कहना है कि अण्डो मे नाइट्रोजन, फास्फोरिक एसिड

और चर्बी का आधिक्य रहता है जो शरीर मे तेजाबी मात्रा बढा देता है। इससे हड्डियो मे गलने की क्रिया शुरू हो जाती है। जोडो मे दर्द होने लगता है।

अण्डे के पीलेपन से यकृत मे जहर का प्रवेश तथा निवेश हो जाता है। यह जख्मो मे कडापन पैदा करता है। इससे चमडी की सूजन व लकवे तक की शिकायत हो जाती है। अण्डे के प्रयोग से आमाशय का रस स्राव नही होता। पेप्सिन की क्रिया इस पर जल्दी नही हो पाती है। आत्र व क्लोम के रस इससे अनुकूलता नही बिठा पाते।

मानव की अधिकतर त्रुटियाँ अजानकारी मे होती है। ऐसा मेरा विश्वास है कि अण्डे के प्रति उक्त जानकारी के आलोक मे अब हर कोई जो अण्डे के प्रति जरा भी रुझान रखता है इससे परहेज करने मे प्रवृत्त होगा। व्यर्थ विभ्रमो के कारण पापमयता को प्रश्रय देना जरा भी उचित नही कहा जा सकता।



२१

खतरा, या खतरे की भ्रांति

आज चारो ओर समाज मे साधु-साध्वियो के आचार-विचार को लेकर विविध प्रकार की चर्चाएँ, ऊहापोह, टीका-टिप्पणियाँ प्रायः सुनने को मिल रही है। उसके पीछे मै समझता हूँ मूल कारण सबकी अलग-अलग समाचारियाँ, प्ररूपणाएँ एव मान्यताए है।

कई समाचार-पत्रो मे आजकल प्रायः देखने को मिल रहा है कि साधुओं मे शिथिलाचार बढ रहा है। इसका समाधान होना चाहिए। वही दूसरी ओर क्राति के अवधारक भी कई है, जो रूढ-परम्पराओ से परे कुछ नई बात के हामी है। स्पष्टतः यह एक विरोधाभास है।

मेरी स्वय की मान्यता है कि आचार-विचार-क्रियाओ आदि का समुचित परिपालन होना चाहिए पर इन सब बातो से पहले मेरा एक प्रश्न है कि शिथिलाचार और उत्कृष्टाचार का निर्धारण किस आधार पर किया जाए ?

एक परम्परा जिन प्रवृत्तियो को ठीक समझती है, दूसरी परम्परा उन्हे ठीक नही समझती। किसी ने मैले कपडे रख लिए तो उत्कृष्ट हो गए और उजले रख लिए तो शिथिलाचारी ! साबुन-सोडा लगा लिया तो शिथिलाचार, न लगाया तो उत्कृष्टाचार। माइक पर बोलते है तो ढीले। नही बोले तो उत्तम। प्लास्टिक के पात्र रख लिए तो दुराचार और न रखे तो सत्कार !

तथ्य यह है कि छोटी-छोटी बातो मे उलझने की बजाय आज यह देखा जाए कि मूल-महाव्रतो की स्थिति क्या है ? उनका परिपालन योग्य रूप मे हो रहा है या नही ? उसमे यदि शिथिलता आ गई या आ रही है तो जरूर निर्विवाद रूप से सोचने-विचारने का प्रश्न है और उस पर आवश्यक रूप से गहराई के साथ विचार-चिन्तन होना चाहिए।

मेरा ख्याल है कि श्रमण सघ हो या श्रमण सघ से पृथक सगठन, आज जो सबसे बडी आवश्यकता है वह यह है कि हमारी समाचारी, प्ररूपणाएँ एव श्रद्धा आदि एक हो। भगवान महावीर हमारे सर्वमान्य आस्था-पुरूष है। अन्य तीर्थकरों

के प्रति भी हम सब की धारणा एक ही है। लक्ष्यमान जितना ऊँचा हुआ करता है, सिद्धि उतनी ही गरिमामय दीप्तिपूर्ण हुआ करती हैं। छोटे-छोटे खेमो का विभाजन परिधियो मे समेट कर रख देता है। इसमे पर्याप्त अनुदारता है। परिधियो का सकुचन तुच्छता देता हैं। उदारता नही तो सच्चा विकास नही। उदारता अनिवार्यता हैं।

अपनी—अपनी सकुचितताएँ हमारी महत्ता पर करारा आघात कर रही है। परम्परा और धर्म का ऐसा घालमेल हो गया कि कई खूंटे गड गए है। हर खूंटे पर झण्डा लहराता है। हर झण्डे के नीचे सिमटे हुए लोग आतक और विद्वेष से भरे-पूरे है। हर झण्डे का रग अलग है।

हमे यह भली-भाति समझ लेना चाहिए कि परम्परा अलग है और धर्म अलग है। कालक्रम मे परम्पराएँ बदलती है और क्षण-क्षण बदलने की उनमे सम्भावना है, पर धर्म स्थायी है। धर्म स्थिर है। सर्वथा अविचल है। वह नही बदलता। परम्परा शरीर है तो धर्म आत्मा है। शरीर बढता, घटता है, रुग्ण होता है, स्वस्थ होता है और नष्ट भी होता है। जबकि आत्मा शरीर के पहले भी होती है, बाद भी होती है और हर वक्त एक ही रूप मे होती है। आत्मा शरीर की उपकर्ता है। शरीर आत्मा को उपकृत नही करता।

मनुष्य जीवन के दो पक्ष होते है—बाह्य और आन्तर्। बाह्य बदलता है, आन्तर् एक ही स्वरूप मे रहता है। यहाँ तक कि हर तीर्थंकर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार जीवन के बाह्य रूप निर्धारित किये है। इसी कारण हम देखते है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के युग मे श्रमणो का रहन-सहन कुछ और था तथा बाईस तीर्थंकरो के समय कुछ और एव भगवान महावीर तक आते-आते तो जैसे सारा स्वरूप ही बदल गया।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय आहार-विहार, प्रतिक्रमण, महाव्रत, वस्त्र आदि की जो व्यवस्थाए थी उनमे भगवान महावीर ने आमूलचूल परिवर्तन कर दिए। भगवान ऋषभ से अपने काल तक चली आ रही वर्ण-व्यवस्था को भगवान महावीर ने छिन्न-भिन्न कर दिया। तो क्या हम कहेगे कि भगवान महावीर शिथिलाचारी हो गए। मुझे तो लगता है कि आज की स्थितियो मे भगवान महावीर हुए होते तो उन्हे भी इस आरोप का सामना करना पडता।

वस्तुत. जरूरत है कि हम आरोपो की बजाय ठण्डे मन से चिंतन करे और हो रहे परिवर्तन के आलोक मे अपने बाह्याचारो को निर्धारित करें। निश्चय ही हमे इन निर्धारणो मे अपने मूल को, अपने आधार को, आस्था को त्यागना नही है।

"धर्म खतरे मे है" ऐसे नारो को प्रश्रय देने का कोई औचित्य नही है। यदि धर्म खतरे मे है तो उसके कारण सब ही है और उसका निवारण हर कोई चिन्तनपूर्वक अवश्य करे। केवल प्रलाप एव बवण्डर समस्या का समाधान अथवा निदान नही है। वे तो खतरे को और अधिक बढाते है।

धर्म पर खतरे से अधिक खतरे का भ्रम है। इस भ्रम को उपजाने वाले कारणो की तह मे जाया जाय। इस भ्रम की वास्तविक परख जरूरी है। सही वक्त पर सही विचार, सही चिन्तन और सही निर्धारण अत्यन्त आवश्यक है।

जो परिवर्तन वाछनीय हैं उन्हे स्वीकारना चाहिए। जिससे अध्यात्म साधना मे किसी न किसी प्रकार से लाभ है ऐसे परिवर्तनो को उदार मन से स्वीकारा जाए और उन्हे सामाजिक मान्यता भी हमे देना चाहिए। अवाछनीय परिवर्तनो को मैं तो क्या कोई भी स्वीकारने को कहे तो वह हठवादिता है।

ऐसे किसी भी प्रयास से मेरी रुचि एव सहयोग है जो हमारी व्यवस्था को अध्यात्म विकास या नव्यतम की जोड़ मे बिठला देने में तत्पर है। अगर मजिल तक पहुँचना है तो रास्ते के ककर-पत्थरो मे उलझे रहना व्यर्थ है। मजिल वही पाता है जो खुद चलकर जाता है। रास्ते के किनारो पर खड़े रहना बेकार है। राहगीरो पर छीटाकशी करना तथा बाधा पहुँचाना एक तरह का यात्रा-पथ पर व्यवधान है।

अनुदारता हमे कही नही ले जाती—अपितु भटकाती है। उदारता एवं स्वस्थ दृष्टिकोण हमारे लिए बद द्वार खोलती हैं। हम यह सतर्कता अवश्य रखें कि उदारता उच्छृखलता तक न जा पहुँचे। सतर्कता जरूरी है पर कुतर्क अर्थहीन है। शिथिलाचार अब एक ऐसा प्रश्न बन गया है कि इस बिन्दु पर उसका निरीक्षण—परीक्षण कर लेने मे ही लाभ है। हमारे अपने लाभालाभ से बढकर सघ हित है। सघ समाज का लाभ है और हमे उसी के लिए चतुर्विध प्रयास करने चाहिए। सघ विकास के लिये साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका चारो के समान रूप से दायित्व है। एक दूसरे पर दोष मढ देना या छिछली अखबारबाजियाँ संघ के लिए सर्वाङ्गीण रूप से घातक है। हम पूरी ईमानदारी, उदारता, पारस्परिकता एव स्नेह सौजन्य के साथ बढें यही अपेक्षित है। यही आवश्यक है और यही मेरा एक विनम्र निवेदन है।



२२

प्रश्न, मात्र दहेज का नहीं, पूर्ण परिशोधन का है

दहेज न लेने के संकल्प जहाँ-तहाँ लिये जा रहे है। युवा वर्ग सामने आ रहा है। सामूहिक विवाह भी हो रहे है। जाति के, धर्म के, सस्कृति के विभेद खत्म हो रहे है। विवाह का ढाचा ही वदलता जा रहा है। परन्तु यह सव कितना थोडा है। न्यूनतम है। अधिकतर के लिए तो अव भी वही ढर्रा है।

वात यही खत्म नही होती, वात कुछ और है। दहेज लिया जाए या नही, लिया जाए अथवा दिया जाए या नही, वात इससे भी आगे जाती है। दहेज लेकर अथवा न लेकर भी कन्या को ससुराल मे पूरा सरक्षण व अपनापन नही मिलता है। दहेज दिया है तो कमी की वात उभरेगी। अच्छा-खासा दहेज दिया है तो अन्य वातो का उभार है। दहेज से पृथक भी कई प्रश्न है। पति का दुराचार या किसी उप-पत्नी की उपस्थिति भी हो सकती है। दहेज से इतर अन्य पारिवारिक पचडे भी हो सकते है।

सही वात तो यह है कि आज स्थिति डगमगा रही है। दहेज तो एक ओर, आज तो विवाह सस्था ही वडी विकृत हो रही है। वात-वात मे तलाक होते है। तलाक नही तो परित्यक्त अवस्था है। जीवन को हर हालत मे ढोया जाता है। परस्पर का निर्वाह हो रहा है।

गृहस्थी वडी विकट है। गृहस्थी खाडे की धार है। गृहस्थी के पचडे मे पड़ने के वहुत वाद दम्पत्ति को यह मालुम होता है। वक्त तव आगे वढ जाता है। स्थितियो से जूझने की सक्षमता आज के युवा वर्ग में विल्कुल नही है। वे वडी दयनीय स्थिति मे है। उनकी समझ स्थितियो मे वदलाव नही ला पाती।

विवाह की जरूरत क्यो है ? विवाह की अवस्थिति क्यो है ? विवाह के प्रारम्भिक कारणो मे सुविधा, अधिकार भावना का अनुपान है, या प्रारम्भिक लगाव है। वाद मे चलकर इसमे सस्कृति की एक परम्परा का निर्वहन जुट गया

है। आज तो विखण्डन है। जो स्थितियाँ है इससे यह लगने लगा है कि कल को इस सस्था के प्रति नकार उपज सकता है। हो सकता है कि मनुष्य पूर्ववत् आदिम अवस्था मे आ जाए।

यह तो हुई विवाह की बात, दहेज उससे जुडा है। चाहे प्रदर्शन के लिये हो, चाहे परम्परा पक्ष हो पर इसमे स्वेच्छा की बात खोजना बेमानी है। मनुष्य के अपने स्वार्थ धन का परित्याग करने मे सकुचाते है, विमोह कभी छूटता नही है। और मनुष्य का ही स्वार्थ दूसरी ओर अधिकाधिक धन प्राप्त करने मे सलग्न होता है।

पहले स्वेच्छा भाव रहा हो, यह बहुत सम्भव है। तब अभाव नही था अतः अपने पास से बहुत कुछ चला जाकर भी बहुत कुछ बाकी रह जाता था। परन्तु आज सर्वत्र अभाव है, अभाव नही तो अभाव की मनोवृत्ति है। ऐसे मे थोड़ा जाना भी वहाँ भारी प्रतीत होता है। फिर भी मन मार कर लेना देना तो होता ही है।

दहेज-प्रथा ने अन्ततः कई दुष्परिणाम भी अपने से जोड लिये है। दहेज के अभाव मे कन्या की हत्या या आत्महत्या के प्रसंगो से पत्र-पत्रिकाएँ भरी पडी है। दहेज जो कभी स्वतः सहेज कर दिया जाता था आज प्रत्यक्षत अभिशाप बन गया है।

दहेज आज समाज या परिवार स्तर पर प्रतिष्ठा का विषय बना है। दहेज के क्षेत्र मे परस्पर प्रतिस्पर्द्धा चल पडी है। बढ-चढकर प्रदर्शन होने लगे है। दहेज के जिन स्वरूपो से बहू गुजरी है सास बनकर वह भूल जाती है, या टाल जाती है। दहेज के मामले मे उसके साथ जो ज्यादतियाँ हुई है वह उनका प्रतिशोध लेने लगती है।

तिलक-दहेज के मामलो मे आजकल मोल भाव होने लगा है। दहेज के लिये होने वाली सौदेबाजी से लगता है शादी पारस्परिकता का तत्व बिसार चुकी है। दहेज की अवस्थिति उसे विशुद्ध अर्थशास्त्रीय स्वरूप सौप रही है। अर्थ तत्व बढ गया है। दहेज की प्रथा के कारण अर्थशास्त्र की सविधियाँ इस पर लागू हो गई है। वैसी ही माँग व पूर्ति है, वैसा ही मोल भाव है, सौदे तोडने व जोडने की वैसी ही प्रक्रिया है। गलाकाट-प्रतियोगिता है। अनीति का समावेश है। काला बाजारी है। धोखाधडी है। जो इन प्रतियोगिताओ मे ठहर नही पाती ऐसी कन्या विवश है। या तो उसे दूज वर मिलता है या अनमेल विवाह होते है, या वह कुंवारी ही रहने को मजबूर है। या फिर उसके लिए बाजार खुला है जहाँ वह बार-बार बेची व खरीदी जाने का उपादान बनती है। व्यभिचार-अनाचार को खुलकर बढावा मिलता है।

स्पष्टतः यह नारी की अवमानना हैं। नारी जितनी अपमानजनक स्थितियों से आज गुजरी है शायद पहले कभी न थी। कहने को नारी स्वातंत्र्य के डके पीटे जा रहे है पर वास्तविक स्वतंत्रता उपभोग की सविधि के बजाय नारी को भोगने की स्वतंत्रता ही बढी-चढी हैं।

दहेज आज एक आर्थिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक प्रश्न हैं। इसका कही अन्त नजर नही आता। विवाह समय के अन्य खर्चो व व्यवस्था आदि मे भी भारी वृद्धि हुई है। इनकी आपूर्ति के लिये व्यक्ति का चारित्रिक पतन भी होने लगा हैं। उसकी जीवन निष्ठा आतंकित हुई हैं, उसकी धर्म भावना को आघात पहुचा हैं। इस तरह यह चारित्रिक व धार्मिक प्रश्न भी बन गया हैं।

वस्तुतः दहेज एक ऐसा विष वृक्ष बन गया हैं जिसका फल मानवता को तिल-तिल कर मार रहा हैं। दहेज मानवीयता को कचोटता हैं। यह मानवीय ढाँचे को जर्जर बना रहा हैं। यह समाज, परिवारो मे टूटन फैला रहा है। यह एक ऐसी अनिवार्यता बन गया हैं जिसके बिना निस्तार नही लगता हैं।

स्थिति के इतने दयनीय स्वरूप में भी आशा शेष हैं। यह स्थिति अब भी टाली जा सकती है। पानी अब भी सिर से ऊपर नही गया है। यह स्थिति अपराजित नही। चेतने के लिये अब भी वक्त है। अभी भी जागृति सम्भव है। यह एक व्यर्थता है कि हम दहेज को कोसते चले जाए। चहुँ दिश घेरना जरूरी है।

व्यक्ति की निष्ठा जागे यह बहुत ही जरूरी है। यह जरूरी है कि उसके मनोभाव मे स्थिति के अनुसार ढल जाने की विशिष्टता आ जाए। यह जरूरी हैं कि वह स्वार्थ सम्पोषण की बजाय मानवीय उद्‌भावनाओ से सलग्न हो।

व्यक्ति-व्यक्ति सगठित हो अब अनिवार्य हैं। यह जरूरी हैं कि वह नैतिक रूप से शिक्षित हो। प्रदर्शनो से परे हो। अपव्यय से बचे। यह जरूरी हैं कि वह अपने धन से योग्य सदुपयोग मे प्रवृत्त हो। सगठनो के आधार आर्थिक न होकर नीतिमत्ता से भलीभाँति पगे हुए, परिपूर्ण हो। अर्थ वहाँ आवश्यकता हो, प्रलोभन नही।

व्यक्ति सर्वरूपेण सन्तुष्ट हो। राज्याश्रय मे रहने की बजाय वह अपनी अस्मिता आप तलाशे। वह अन्वेषी हो। उसे अपने आप ही उठान दे व पूर्ण सम्बलता से जीवन की प्रत्येक विभीषिका से जूझे और उसे विजित करे।

तब विवाह अथवा दहेज तो एक बहुत छोटा-सा प्रश्न रह जायगा। उसके बारे मे चिंतित रहने से तब मुक्ति मिल जायगी। दहेज के रास्ते समाज सुधार की बजाय समाज क्रांति से हर समस्या सुलझाना कही ज्यादा निरापद हैं। जरूरत हैं ऐसी पारस्परिकता की जो खुद ही अपनी उलझनो से परिचित करे और खुद ही इनके सुलझाव तलाश ले। एक समग्र परिशोधन अब अत्यन्त जरूरी हो गया हैं।

२३

संघर्ष, स्वाध्याय और आशान्विति

देश का वर्तमान इन दिनों बहुत सघर्षपूर्ण हो गया है। सघर्ष आज हर घटक मे है। व्यक्ति, समाज और सभी तरह के समूह! राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक, साहित्यिक, खेल-कूद—कहाँ सघर्ष नही है ?

वे सघर्ष श्लाघ्य है जो परिणामी है अर्थात् जिनका परिणाम निकलता है, पर जो सघर्ष केवल उलझन और ऊहापोह रचते है, वे संघर्ष वेमानी है। जिनसे कोई दिशा नही मिलती, कोई हल नही मिलता, ऐसे सघर्ष से बचना चाहिए।

सघर्ष के उपजने की पहली शर्त है—अवुद्धि ! अवुद्धि अर्थात् जानकारी का अभाव या अपर्याप्त जानकारी। मनुष्य कभी भी अपनी मूर्खता को व्यक्त करना नही चाहता। अगर वह व्यक्त होना चाहती है तो वह प्रयत्नपूर्वक व्यक्त होने से रोकता है। वैसे नही रुकती तो उस पर मुलम्मे चढाता है। फिर भी नही छुपती तो वह खीझता है और यही खीझ तनाव एव सघर्ष को स्थान देती है।

अवुद्धि को वुद्धिमत्ता से परे किया जा सकता है। अज्ञान के अंधकार को ज्ञान के प्रकाश से दूर किया जा सकता है। प्रकाश सभी कुछ उजागर कर देता है। ज्ञान की प्राप्ति नित्य-प्रति के व्यवहार एव अनुभव से आती है अथवा किसी ज्ञानवान के सार्थक सम्पर्क से भी यह सम्भव है, आज के युग मे जहाँ सचार के साधन वढे है, ज्ञान की तृषा कई और तरह से भी वुझ सकती है।

ज्ञान, अध्ययन निरन्तर अभ्यास से वढता है। इस तरह से स्वाध्याय का महत्व वढ जाता है। स्वाध्याय अर्थात् अपने आप का अध्ययन! अपने आप की प्रतीति! अपने आप का बोध ! अपने आपकी जानकारी ! अपने आपका अवलोकन!

और मोटे रूप से स्वाध्याय का अर्थ है—पुस्तकादि स्वरूप मे उपलब्ध ज्ञान का पारायण! हम देखते हैं कि प्रकाशित साहित्य एक विशाल समुद्र के समान

असीम है। इस अथाह को समग्रतः पढ़ पाना, जान पाना, हम मे से किसी के लिए सम्भव नही।

जब हमारे सामने अथाह है, असीम है, अनन्त है तब हमारे समक्ष चयन का विकल्प प्रस्तुत हो जाता है। चयन के अपने कई आयाम है। पठन कई कारणो से किया जाता है। कही वह मनोरजन का माध्यम है तो कही वह जिज्ञासा के शमन का साधन। पठन कही-कही प्रतिष्ठा का भी स्वरूप होता है। कही पठन जानकारी की अभिवृद्धि के लिए होता है। कही पठन केवल समय काटने का कारणभूत होता है। 'अलग-अलग स्वरूपो मे होने से उसके उद्देश्य या परिणाम भिन्न-भिन्न होते है।

प्रयोजन कोई भी हो, ज्ञानार्जन के लिए, आत्म-अभ्युदय के लिए स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। खेद की बात है कि सत्साहित्य के प्रति स्वाध्याय आज कुछ लोगो तक ही सीमित है। कही यह साहित्य तालेदार आलमारियो मे बन्द पडा है तो कही ग्रन्थागारो में, भंडारो मे। काफी कठिन प्रयासो द्वारा ही उन्हे पाया जा सकता है।

इस अनुपलब्धि के पीछे एक कारण यह भी है कि अच्छे-अच्छे व्यक्ति भी दुर्लभ ग्रन्थो को रख लेने या हथिया लेने का लोभ सवरण नही कर पाते। परन्तु आज के युग मे साहित्य के असीम को सर्वसुलभ बनाने के अनेक साधन उपलब्ध है तब उन्हे अधिकाधिक व्यक्तियो के पठन-पाठन के लिए सुविधा से उपलब्ध कराना आवश्यक हो गया है।

इन दिनो नगर-नगर मे लाइब्रेरियाँ इस तरह से कार्यरत है, जो साहित्य को सुलभ बना रही है। इनमे पत्र-पत्रिकाओ का स्तर तो खैर उच्चकोटि का नही है परन्तु चित्रावली वाली पुस्तको मे काफी गम्भीर एव प्रेरणापूर्ण कथाओं का चित्र-सकलन किया जाता है।

देखने मे आ रहा है कि इस अवसर का उपयोग जैन-सन्दर्भ मे नही किया जा रहा है। कुछ महापुरुषो पर थोडा कुछ प्रकाश मे आया है, बाकी सब सीमित है। जैन आगम व कथा साहित्य मे प्रेरणा का विपुल-कोष छिपा पडा है, पर इन पर कार्य न होने से बडा कुठाराघात-सा हो रहा है।

इस न्यूनता मे एक बडी बाधा या अडचन यह है कि जैन समाज मे अलग-अलग परम्पराएँ है। दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरह पथ एव मन्दिर मार्गी। इनमे नग्नता, मुहपत्ती-विहीनता तथा मुंहपत्ती धारण—इस प्रकार परस्पर यह बडा

विभेद है। इस कारण चिन्तन मे बडा फर्क होने से समग्रत' पहल किये जाने मे बडी कठिनाई है।

अगर यह अडचन दूर की जा सके तो उससे वेहतर कोई हल नही। समग्र जैन समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली सस्था—जैसे 'भारत जैन महामडल' इसमे कुछ कर सकती है। परन्तु यह यदि सम्भव नही हो तो फिर अलग-अलग आम्नायो की अलग अलग पहल भी स्वीकारी जा सकती है। आपस के राग-द्वेष, टीका-टिप्पणियो, व्यर्थ के वितण्डावाद से वचकर हम दृष्टिकोण मे उदारता लाएँ। मूल वात यह है कि हमे इस अवसर का समूचा लाभ उठाना चाहिए।

इसी की एक कडी और है—सचार का, रेडियो—टी वी का साधन! रेडियो श्रीलका द्वारा ईसाई मत के प्रचार-प्रसार हेतु कई धार्मिक प्रसारण किये जा रहे है। इसी तर्ज मे अगर जैन धर्म की विशिष्टता को भी उजागर किया जाए तो जन-जन तक इसे पहुँचाने मे सुविधा हो सकती है। इसके लिए विविध भारती के आयोजित कार्यक्रमो का अवलम्ब भी है।

मै जानता हूँ कि इसमे व्यवधान आएँगे, विरोध भी होगे। परन्तु यह सव तो तब तक ही जब तक किसी कार्य के सुपरिणाम नही आते और इस कार्य मे अतत सुपरिणाम ही सम्भावित है। इस सन्दर्भ मे और आगे का कदम है फिल्म—यह भी आज के युग मे सचार साधनो मे बढा-चढा है।

स्व-अध्ययन की वात कहते-कहते मैने उपयोगिता के आधार पर अन्य ससाधनो का भी जिक्र किया है, पर इसका अभिप्राय मेरा यह कदापि नही कि, यह हो ही, वैसे भी यदि सुलभ अध्ययन मे भी सघन प्रयास किया जा सके तो भी बहुत बडी बात होगी।

पठन पाठनकी प्रवृत्ति बढनी चाहिए—परन्तु यह भी जान लेना चाहिए कि पठन ही पर्याप्त नही, उस पर चिंतन-मनन भी जरूरी है और जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार परिपालन भी आवश्यक है। पढना ही सम्पूर्णता नही, उसे गुनना होता है, जीवन मे अपनाना होता है। ढेर सारे श्लोक साहित्य को कठस्थ करना, अनेकानेक ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन करना और वात है और उसे जीवन के व्यवहार मे लाकर कषाय से विरत होना और वात है। जव तक यह नही होगा, मेरी दृष्टि मे सव व्यर्थ है।

कही-कही विश्वविद्यालयो मे जैन धर्म की पुस्तके सह-पठन के लिए मान्य की गई है। कुछेक पत्रिकाओ का लोक प्रचलन भी वढा है। कही कही विश्व-

विद्यालयो मे जैन शिक्षा को भी मान्य किया है, परन्तु ये सारे प्रयास बहुत ही अल्प हैं।

मैंने अध्ययन या स्वाध्याय मे जैन मुद्दो को उठाया है पर इसका मतलब यह कतई नही है कि अन्य मतावलम्बी या अन्य दर्शनो को पूर्णतः त्यागा जाए, अवहेलित किया जाए। यह बात ध्यान मे रखने की है कि जीवन की उठान मे हर—एक—धर्म स्थापनाएँ देता है। हमे परस्पर तुलनात्मक अध्ययन को भी बल देना है और अच्छाइयाँ जहाँ भी मिले ग्रहण करना चाहिए।

भगवान महावीर के अनेकात दर्शन मे जीवन को अपनी समग्रता से देखने के लिए अपने सत्य के साथ औरो के सच के परीक्षण करने की नियोजना है। एकागी दृष्टि जैन दर्शन मे कभी भी मान्य नही की गई है।

तो, मै कामना करूँ कि देश के वर्तमान सघर्ष के क्षणो मे सौम्यता, सहृदयता, उदारता पूर्वक अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त कर जीवन को, समाज को, देश को, विश्व को सही दिशा देने के सफल प्रयास होगे। मैं तो आशान्वित हूँ।



२४

विवेकसम्मत निर्माण : अविवेकपूर्ण कुठाराघात

छिटकी हुई बूंदे, विशृ खलित बूंदे अपनी स्थितियो मे वाष्प मे बदलकर अस्तित्व खो देती है। उनका कोई परिणाम नही होता। उनका कोई प्रभाव नही होता। उनका अस्तित्व होकर भी नगण्य होता है। वे ही बूंदें अगर मिल जाती है तो उनमे भी विशदता का समावेश है और वे प्रवृद्धि पा जाती है। एक धारा जो समय व स्थितियो के साथ पुष्ट होती हुई एक अथाह प्रवाह मे बदल जाती है।

श्रमण सघ की निर्मिति मे भी एक ऐसी ही घटना है। वर्षो पूर्व संघ ने सफलता के लिए जो प्रयास किया वह आज हमे सुपरिणाम दे रहा है। इसमे बीच-बीच मे कुछ महान सन्तो द्वारा विशृ खलता के प्रयास हुए पर धारा इतनी पुष्ट थी कि वे प्रयास इसे आघात नही पहुँचा सके। हालाकि वह विशृंखलता एक टीस अवश्य छोड गई।

इस सम्मेलन मे स्थानकवासी अनेक सम्प्रदायो का अखिल भारतीय स्तर पर विलीनीकरण हुआ। श्रमण सघ का निर्माण हुआ। सर्वत्र हर्ष की लहर छा गई। आचार्य श्री आत्मारामजी म० एव उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी म० के नेतृत्व मे सघ खूब विकसित हुआ। सादडी, सोजत, बीकानेर, अजमेर के सम्मेलन काफी सार्थक रहे।

इस एक्यता से समाज मे एक नई उमग, नया उत्साह जागृत हुआ। धर्म-मयता मे इसके कारण नये आयामो का उदय हुआ। एक असम्भव-सी लगने वाली बात के सभाव्य ने सबको जैसे चमत्कृत तथा दीप्त कर दिया।

महान सन्तो की अनन्य प्रेरणा, श्रावको की निष्ठा और कर्मठता का ही सुपरिणाम था कि यह एकता सम्भव हो सकी और जब यह सम्भव हो गया तो यही लगा कि ससार मे कुछ भी असम्भव नही है।

आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी म० ने श्रमण सघ मे अपार दिव्यता भर दी है। आपके नेतृत्व मे संघ ने खूब प्रगति की है और धर्ममय वातावरण की स्थापना मे भारी सहयोग दिया है। आपकी वयोवृद्ध अवस्था मे श्री मधुकर मुनि ने युवाचार्य पद पाकर आपके दिशा निर्देशो के परिपालन मे योग्य सहयोग दिया और स्वय ने अपनी प्रतिभा का भी परिचय दिया परन्तु दुर्भाग्य से वे इस सहयोग को बरकरार नही रख पाये। काल के विकराल हाथो ने उन्हे हमारे बीच से उठा लिया। सघ के सामने एक गम्भीर समस्या पैदा हो गई। वयोवृद्धआचार्य श्री पर पुन. भार आ गया परन्तु उपाध्याय, परामर्शक मण्डल आदि सहआचार्य श्री ने स्थिति को सम्भाल लिया है। नये युवाचार्य के मनोनयन पर सबकी निगाहे है। आचार्य प्रवर इस मनोनयन के लिये अवसर तथा योग्य व्यक्ति के लिये चिंतनशील हैं। सुझावो, प्रस्तावो पर वे चिंतन कर रहे हैं।

इन दिनो एक नई प्रवृत्ति चल पडी है। अनेक लेखक इन दिनो पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से, खुले पत्र आदि के रूप मे आचार्य श्री को सुझाव दे रहे है। इस प्रकार के लेखन के पीछे वास्तविक चिंतन के बजाय अपना प्रदर्शन प्रमुख लगता है। वैसे भी भारतीय मानस मे सुझाव देने की बडी ललक रहती है पर जब कार्य रूप मे परिणत करने की बात आती है तो वे ही कन्नी काट जाते है। इस बात को आप इस दृष्टात से समझ ले।

एक चित्रकार ने एक चित्र बनाया और उसे एक चौराहे पर टाग दिया। उस पर एक चिट लगा दी 'कृपया त्रुटियाँ दर्शाये'। साझ तक उस चित्र पर सैकडो काले, पीले, नीले निशान पाये गये। चित्रकार स्तब्ध रह गया। पूरा चित्र कूडा हो गया था। व्यक्तियो की मनोवृत्ति की परख हेतु उसने पुनः एक चित्र बनाया, उसे भी चौराहे पर टागा। उसके साथ भी एक चिट लिखकर सकेत दिया कि 'कृपया त्रुटियाँ सुधारे'। इस बार किसी ने भी उस चित्र को हाथ तक नही लगाया।

तो इस तरह खुले पत्र व्यक्ति की इस मनोवृत्ति का चित्रण करते है। बजाय इसके व्यक्ति अपने योगदान की बात कहते हुए स्वय आचार्य श्री से पत्र द्वारा अथवा प्रत्यक्ष दर्शन कर सुझाव व सहयोग प्रस्तुत करें तो बात समझ मे आ सकती है।

सब जानते हैं कि सामान्य व्यक्तियो की वृत्ति दोष देखने मे ही अधिक है। अधिकतर सब तमाशबीन होते है। आप एक दोष दिखलायेंगे वे दस दोष खोज लेंगे। इस तरह छवि विकृत हो जायेगी। हो सकता है इससे सघ व समाज पर

वुरा असर पड़े, उसके अस्तित्व पर भी आघात पहुँचे । इस तरह अपने ही सघ पर कुठाराघात करना कहाँ की वुद्धिमानी है ?

त्रुटियाँ होना कोई बडी बात नही है, उन्हे विवेकपूर्वक सुलझाया भी जा सकता है परन्तु उनका ढोल पीटना, उन्हे बढा-चढाकर व्यक्त करना एक तरह से व्यक्ति का अपना प्रमाद ही है ।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे सगठन मे सहयोगी बने । एकता का परिचय दे । ताकि समाज को सही गति, सही दिशा मिले । विवेकपूर्ण चितन, विवेकपूर्ण तौर तरीके निश्चय ही स्वागत योग्य है ।

ऐसा लेखन जो कलई उघाडने के हेतु लिखा जाता है, कभी भी क्रांतिकारी नही कहा जा सकता । शायद ऐसे लेखन की जरूरत तब हो जब स्थिति अत्यन्त ही विकृत हो । पर हमारे सघ मे अच्छे सुझावो पर अमल किये जाने से कतई परहेज नही है । देखा जाये तो श्रमण सघ का निर्माण ही विवेकपूर्ण सुझाव तथा प्रयासो का परिणाम है । जो सगठन विवेकसम्मत तरीके से अस्तित्व मे आया है उसे अविवेकपूर्ण तरीको से पुन विनष्ट करना सबसे बडा अविवेक है ।



२५

प्रथाओं में प्रविष्ट विकृतियां बुरी हैं

अविच्छिन्न क्रम अर्थात् अटूट सिलसिला ही प्रथा है, परम्परा है। साधारण भाषा मे इसे चलन भी कहते हैं। चलन अर्थात् गति, चाल, रस्म, रिवाज, बराबर होते रहने वाले आचरण या व्यवहार। इसे साहित्यिक जामा पहना देते है तो हो जाता है प्रचलन। दूसरे रूप मे इसे प्रणाली, पद्धति, ढग या तरीका भी कह सकते हैं। परम्परा को रीति भी नाम दिया है जिसका अर्थ कोई कार्य करने का ढग, ढब है। रीति ही नियम, कायदा, स्वभाव भी कहलाती है।

बहुत दिनो से प्राय: एक रूप मे ही चला आया क्रम भी प्रथा, परम्परा या रिवाज है। प्रथा विचारित विश्वास भी यही है। अगर यह विचारित है तो आत्म उत्स का कारणभूत होगा और अविचारित है तो आत्म-शुद्धि मे इसे बाधक होने से भला कौन रोक सकता है?

ऋद्धि गौरव, रस गौरव और साता गौरव आत्मा के इन तीन अशुभ भावो मे रगी होती हैं परम्परा। इन अशुभ भावो के उदय से परम्परा मे घुल जाती है विडम्बना, विकृति और विकरालता।

इन पक्तियो मे हमे अभीष्ट है कुछ सामाजिक कुप्रथाओ की चर्चा। यथा—तिलक, दहेज, प्रदर्शन आदि। समाज मे किसी भी रुढि का प्रवेश सर्वप्रथम इस तथ्य पर होता है कि व्यक्ति, व्यक्ति के दु.ख-दर्द, पीडा के क्षणो मे वे परस्पर कम्पन व सवेदन के कारण परस्पर जुड़ाव रखते हैं। यहां तक तो ठीक है। पर जब यह कम्पन, यह सवेदन, महज एक रस्म अदायगी बन जाता है, इसमे सौदेबाजी शुरु हो जाती है, अपनी स्वार्थ-भरी अपेक्षाएं जुड जाती है तो उसके पीछे निहित सुभावनाओ का खून हो जाता है।

क्रिया एक बात है, उसमे उसमे निहित हार्दिकता से जुडा होना और बात है। यहां आकर क्रिया कर्मकाण्ड हो जाती है और प्रथा दूषित हो जाती है।

फिर चाहे वह धार्मिक क्रिया हो या अन्य सामाजिक या वैयक्तिक क्रिया हो। धर्म, धर्म होकर भी धर्म नही रह पाता। कारण इसका बडा सूक्ष्म है। सूक्ष्मता सभी त्याग देते है, आचरण मे कोई भी दिव्यता नही ला पाता है। दिव्यता जो उसका हार्द होता है। वास्तविकताओ से यू आदमी दूर-दूर सरक जाता है। मूल मे जो भावना की पावनता होती है उसमे गदलापन आ जाता है। विडम्बना तो यह है कि उस कीचड मे कमल खिलने की सम्भावना भी निरस्त हो गई है।

तिलक की ही बात लें। यह वधूपक्ष द्वारा वरपक्ष को जिन्दगी भर देते रहने की प्रथम शुरुआत होती है। यह दहेज रूपी अथाह का प्रवेश द्वार है। देने की परम्परा का ऐसा सूत्र जुड जाता है-जिसका दूसरा छोर ढूंढने पर भी नही मिलता। गृहस्थ जीवन का यह सबसे बडा अभिशाप है। देते, देते और देते ही चले जाओ। स्वेच्छा रूप से दिया उपहार यदि वह हो तो भी बात जच सकती है लेकिन जब वह अनिवार्यता बनती है तो उसे स्वीकारना उचित नही लगता। फिर परिणाम ऐसे आते है कि उससे व्यक्ति के प्रति दुर्भाव, उसकी छीछालेदार, मान, अपमान का क्रम और अन्तिम परिणति के रूप मे हत्याएँ-आत्महत्याएँ तक घट जाती हैं। टूटन-विघटन की यह गति मानवीय दुर्गति को ही तो लक्ष्य करती है।

सयोग, मिलन या जुडाव एक बहुत ही श्रेष्ठ उपादान है लेकिन इस जुडाव को प्रथम पग से ही तनाव की खोह मे धकेल देना, भला कैसे सराहा जा सकता है ? व्यक्ति, व्यक्ति का, परिवार, परिवार का जुडाव जो समाज की दीप्तिमय परम्परा होना चाहिए पर वह मात्र एक ढकोसला बनकर रह जाए, इससे बुरी बात क्या हो सकती है ?

प्रथाओ मे प्रदर्शन भावना एक ऐसा पक्ष है जो उसे और भी जटिल, दुरूह और दुर्भावना से परिपूर्ण बनाता है। प्रदर्शन वास्तव मे मनुष्य मात्र की वह चाह है जिसके अन्तर्गत वह अपना बडप्पन बतलाना चाहता है तथा औरो को नीचा दिखाने की दुर्भावना से युक्त होता है। प्रदर्शन द्वारा मानवीय श्रेष्ठताओ का इस प्रकार दहन हो जाता है। यह एक ऐसा चलन बन जाता है जो धूम-धड़ाक को तो अवसर देता है पर मानसिक प्रशाति को उलट कर देता है। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा भाव चरम तक पहुँच कर प्रतिद्वन्द्विता बन जाता है। घर फूंक तमाशा होने लगता है। अपनी आन रखने के लिए व्यक्ति मर-मिटने को आतुर हो उठता है। कैसी विडम्बना है कि व्यक्ति मानवीय श्रेष्ठता के प्रतिपादन मे नही बरन् एक झक मे मर-मिटता है।

प्रथाएँ तो खैर रहेगी। व्यवहार की भी वारम्वार आवृत्ति होगी ही पर हम यदि उसमे परिष्करण करे, परस्पर क्लेश, द्वेष या कलह के वातावरण को योजित करने वाली प्रविधियो से परे रखते चले तो भारस्वरूप हो चुकी प्रथाएँ भी प्रेम-प्यार से युक्त हो जायेगी। प्रथाओ को रूढता से मुक्त करना चाहिए। उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बनने से हमे रोकना चाहिए। समाज मे विभेद पैदा करने वाले तत्वो को हमे रोकना होगा, उसके स्थान पर पारस्परिकता की उत्तम अभिवन्दनीय भावना लानी होगी।

यहाँ मै कुप्रथाओ की सूची नही दे रहा हूँ। ऊपर मैने एक सकेत मात्र दिया है। और भी कई वाते है जैसे आहार आदि मे कुत्सित वृत्ति, किसी पारिवारिक की मृत्यु पर की जाने वाली अनेक वोझिल और उपहासास्पद क्रियाएँ, परिगह की वृत्ति, शोषण की भावना, असयम, विलास की प्रमुखता, स्पष्ट चोरी की वात न होकर भी अन्य अनेक कपट भरे तरीको से नैतिक स्तर गिरता चला जा रहा है। यह ऐसी वातें है जिन पर चर्चा की स्थिति आज है, परिसवाद आदि हो सकते है। खुले दिल से चर्चा की पहल अव शीघ्र व अवश्य करने की जरूरत है। नये सकल्प झेलने की स्थिति आ चुकी है, रचनात्मक कदम जरूरी है। नियम आदि तय करने की वेला आ गई है। विलम्व अव असह्य है। समाज के अग्रगण्यो की, कार्यकर्ताओ की दृष्टि क्यो कुण्ठित है? सभी तथ्यो पर चितन-पूर्वक विकृतियो का प्रतिकार अपेक्षित है। हमारा अध्यात्म भी तभी विकास मे सम्वल वन सकेगा।



२६

सम्प्रदायवाद को प्रतिकार दो !

यह एक परिकल्पना है कि जिनशासन मे सह अस्तित्व, सगठन, सौहार्द एव मैत्री का समावेश होगा, वह सम्प्रदायवाद एव मेरे-तेरे के घेरे से मुक्त होगा। दूर तक ऐसे आसार कही भी नजर नही आते। वैपरीत्य, वैषम्य एव तोड-फोड का चक्र इतनी गति पा चुका है कि उसे रोकने वाला भी उसकी चपेट मे आ जावे, ऐसी पूरी सम्भावना है।

सम्प्रदायवाद सर्वत्र प्रशसित है। उसे पर्याप्त प्रश्रय है, समुचित सरक्षण है और उसके विकास के लिए अवसर है। नित्य प्रति वह और अधिक विस्तार पा रहा है। वह रग-रग मे समाता जा रहा है।

तो क्या सारे प्रयास ताक मे रख देना चाहिये ? तो क्या इस सम्भावना-शून्य जगत मे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना चाहिए ? समय और स्थितियाँ तो यही कहती है। लेकिन मैं कहता हूँ कि जो प्रवाह से विपरीत चले, क्राति उसी के हाथ सम्भव है। कई ऐसे क्रातिकारी हुए हैं जिनके शब्दकोप मे असम्भव शब्द का अस्तित्व ही नही था।

अब प्रश्न उठता है कि एक सर्वव्यापक बीमारी का निदान कैसे हो ? कोई भी रुग्णता, कोई भी रोग, यदि उसे पूरी तरह खत्म करना है तो पहले उसका समूचा परीक्षण जरूरी है।

परीक्षण के प्रश्न है—सम्प्रदायवाद कहाँ पनपता है ? तोड-फोड, राग-द्वेप, मेरा-तेरा, आरोप-प्रत्यारोप क्यो उभरते है ? सम्प्रदायवाद की जडे कहाँ तक, किस प्रकार, कितनी पहुँची है ? इन सब बातो पर विचार चिन्तन करेगे तो हम पायेगे—नग्न सत्य यह है कि महावीर के उपासक वर्ग ने आज महावीर को एकदम गौण-सा कर दिया है। मै बहुत बार कहा करता हूँ कि महावीर को याद करना केवल अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए आधार मात्र रह गया है। आये दिन देखते है,

चर्चाओ, प्रस्तावो, गोष्ठियो, सभाओ के बीच प्रायः एकता, मैत्री, सह अस्तित्व, सगठन, सौहार्द आदि की बाते होती है। कहा जरूर जाता है, हम सब महावीर के है और महावीर सभी के है पर सामने जो कुछ आज दिखाई दे रहा है वह एकदम भिन्न है, अलग है, और है। हम सबको आज जितना महावीर और महावीर के सिद्धान्तो का विचार नही है उतनी चिंता, चिन्तन अपने-अपने घेरो का है, अपने-अपने स्वार्थो का है, अपने-अपने राग का है, अपनी-अपनी दृष्टि, अपनी-अपनी धारणा एव मान्यता का है। मैने अपनी इन आँखो से कई बार, कई स्थानो पर देखा है कि महावीर और महावीर के अनेकात की बात गौरव से करने वाले व्यक्ति अपने सम्प्रदाय से अलग सम्प्रदाय के साधु-साध्वियो को देखने के साथ ही आँखे चकरा सी जाती है। ये हमारे सत नही है, ये तो उनके है। हम इन्हे कैसे माने ? कैसे वन्दन नमन करे ? हम इनके पास गए तो क्या हमारा सम्यक्त्व खण्डित नही हो जाएगा ? क्या हमारी साधना विराधना नही हो जाएगी ? श्रावक समुदाय मे तो यह विष समाया हुआ है ही पर जब हम महावीर के पथ पर बढने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियो को (भले ही वे मूर्तिपूजक हो, स्थानकवासी, तेरापथी या दिगम्बर हो) यह कहते हुए देखते है कि उन्हे छोडो, इन्हे धारो, वो ठीक नही है, वो ठीक है। तो बडा विचार आता है यह सब देखते हुए कि कहाँ उतार पाये है हम महावीर को अपने मन मे ! यूँ कहे तो अतिशयोक्ति नही होगी कि महावीर को ही आज मन से उतार दिया गया है। कोई माने चाहे न माने पर यह एक जीवन्त तथ्य है कि औदार्य, सह अस्तित्व, मैत्री, करुणा, प्रेम, सेवा, सहानुभूति, सहयोग आदि के अभाव मे कोई भी देश, धर्म, समाज, सघ की बात तो दूर रही, सम्यक् जीवन को जीने की कल्पना भी नही कर सकता।

यूँ आज समय-समय पर कई बार ऐसे आयोजन भी प्राय: आयोजकों के द्वारा आयोजित होते है इस लक्ष्य को लेकर कि महावीर मे आस्था रखने वाले एक दूसरे के नजदीक आएँ, साथ बैठे, साथ बोलें, एक-दूसरे को समझे, प्रेम भावनाओ की अभिवृद्धि हो। मै मानता हूँ कि ऐसी प्रवृत्तियाँ, आयोजन अपने आप मे उपादेय है और मैं स्वय साम्प्रदायिक सौहार्द का हामी होने के नाते कई बार सम्मिलित हुआ हूँ, कुछ अच्छी अनुभूतियाँ भी हुई है, पर अधिकतम रूप से मैने जो कुछ अब तक पाया, उस आधार पर बडे साहस के साथ कह सकता हू कि इन सब मे भी अधिक औपचारिकताए पलती है। महावीर को गोण कर दिया जाता है, अपने आपको, मतलब मूर्तिपूजक मूर्ति को, स्थानकवासी स्थानक को, तेरापथी और दिगम्बर अपने स्वय को उभारने की चिन्ता मे पुरजोर सक्रिय हो उठता है। ऐसी स्थिति मे क्या तुक है, मचीय शोर-शराबे का। मैं बहुत बार कहा करता हूँ— आज मच की नही, मन की एकता अपेक्षित है।

महावीर मे आस्था रखने वाले घटक अपनी-अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत चले चलना ही चाहिए, इसमे किसी को कोई आपत्ति नही पर कम से कम जो एकरूपता की मोटी बाते हैं उनमे तो हम एकनिष्ठ बन जाये। महावीर को लेकर आखिर किसको क्या विवाद है ? वे तो हम सभी के है।

भगवान महावीर एक दिव्य वृक्ष के दृढ तने के समान है। जिनका आधार पाकर अनेक शाखाये-प्रशाखाये फूटी है। आधार रूप ने भगवान महावीर है। उनका दृढ आधार हमे मिला है। किन्तु वृक्ष को हम अपनी समग्रता मे नही देखते है। प्रत्येक को यह भ्रम है कि हमारा अस्तित्व ही सर्वोपरि तथा सर्वरूपेण श्रेष्ठ है। यहाँ तक तो फिर भी ठीक है पर यदि हम अपनी श्रेष्ठता को ही महत्व देते रहे, और अन्यो को हम कुछ भी नही समझे, विपरीतताये उभारे तो यह हमारी धृष्टता है, कुटिलता है।

माना कि वृक्ष का कोई भाग पूर्वाभिमुख है, कोई भाग पश्चिमामुभिख है तो कोई उत्तर की ओर मुह बाए खडा है और कोई दक्षिण से जुडा हुआ है। कोई किसी समय धूप झेलता है तो कोई किसी और समय। कोई हवा के पुरवाई झकोरो से हिल्लोरित है तो कोई पछुआ हवाओ से सम्पोषित है। कोई उत्तर तो कोई दक्षिण से वायु का श्वसन करता है। परन्तु इससे क्या फर्क पडता है ? है तो यह सब एक ही पेड की शाखाओ की अनुभूतियाँ। इतने से पार्थक्य से यदि हम एक दूसरे के प्रति स्थित पारस्परिकता को खो देवे तो यह तो हमारी एक कुचेष्टा ही कही जा सकती है।

हम बँटे हुए है मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापथी व दिगम्बर आम्नायो मे। इनके भी और कई भेद व प्रभेद है। अपने-अपने स्वरूप के प्रति इनमे से सब ही चिंतित व समर्पित हैं। समर्पण तो है पर वह मानव मात्र के प्रति नही, अपनी-अपनी सकुचितताओ के प्रति है। हम नि.सकोच अपने अस्तित्व को पृथक दर्शाने मे जुडे हुए है। एक ही पेड की कोई शाखा कहे कि मेरा तो अस्तित्व पृथक है, मुझे अन्य शाखा से क्या लेना तो बात जरा गले नही उतरती है।

हम पृथक है. इतना ही काफी नही है। हम अपने ही द्वारा स्थापित इन पृथकताओ मे खोज रहे है वे सूत्र, जिनके बल पर अन्य को नीचा दिखलाया जा सके। एक डाल सोचे कि मै ही ऊँची रहूँ सबसे ऊँची तो अन्य डालो का क्या हाल हो सकता है ? ऊँची सबसे ऊँची रहने की यह ललक एक दिन सभी को धराशायी कर देती है।

पृथकता और बात है पर उस पृथकता मे आपसदारी का त्याग हमारी असहिष्णुता, हमारा अनुदारपन ही तो दर्शाता है। हम प्रभु महावीर का, जैन दर्शन

का समुचित आदर करते है पर एक दूसरे के स्वार्थो के टकरा जाने पर उन्ही का अनादर भी कर देते हैं।

'प्रत्येक अपना ही सिक्का जमाने के लिए प्रयत्नशील है। सबको प्रिय है अपना-अपना गुरुडम, अपना ही जजाल, अपना ही आल–जाल। अपने अलावा किसी को कुछ सूझता ही नही।

आज यदि कुछ पुष्ट हो रहा है तो वह है सम्प्रदायवाद। जो स्थितियो, परम्पराओ का हार्द नही समझता वही खुलकर आक्षेप करता है। आक्षेपो की झोक मे वह यह भी भूल जाता है कि वे आक्षेप उस पर भी लागू होते है।

एक मुँहपत्ती पर उगली उठाता है तो दूसरा उसे प्रश्रय देता है। अपने अपने तर्क सभी देते है। यह तय करना मुश्किल होता है कि क्या सही है ? किस अपेक्षा से, किसे सही या झूठ माना जाता है ? अनेकात की स्पष्ट अवहेलना है।

आखिर कोई अपनी-अपनी समाचारी निवाहे क्या कष्ट है ? क्यो कहा जाता है एक दूसरे को झूठा ? एक ही माँ के तो वे सभी सपूत हैं। माँ का वात्सल्य सभी को समान रूप से प्राप्त है, फिर यह भेद क्योकर है ?

सबकी दिली इच्छा है कि सब मे मेलजोल हो व एकत्व हो। पर सब ही उस भावना की अवहेलना करने मे भी सलग्न हो गए है। यह एक बडी त्रुटिपूर्ण व्यवस्था हो गई है कि सब अपने अस्तित्व की सोचते है। उसके लिए अन्य को कुछ भी महत्व नही देते, उसे कुचलने की सोचते रहते है। परन्तु यह एक निर्विवाद सत्य है कि अन्य की विनष्टि सोचना बडी मूर्खता है। यह ठीक उसी प्रकार है कि औरो के लिये गड्ढा खोद खुद ही गिर पडना।

सबकी सोच अलग-अलग है तो इससे क्या फर्क है ? इससे महावीर के सिद्धातो का स्वरूप तो नही बदलता। महावीर तो एक ही है। उनका कथन एक है, उसका दर्शन एक है। फिर ये सब व्यर्थ के प्रपच क्यो है ? कहाँ से आये ये विभेद ? एक ही दीवाल पर अनेको छिद्र से प्रकाश आता है। अलग-अलग छिद्र उसे अलग-अलग आकार मे ढालते है, प्रसार देते है। पर क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सूरज भी अनेक है।

यह बडी विडम्बनापूर्ण स्थिति है, यह निरर्थक है। न जाने हम इसे क्यो दवा देते है ? क्यो अपने आपको सुलगाते हैं ? क्यो हम रचते है अलगाव ? लगाव की बातें हम क्यो बिसार बैठे हैं ? क्यो सभी को स्वार्थ प्रिय है, क्यो सभी ने सकुचितता को धारण कर लिया है ?

माना कि हममे वह दृढता नही जो वीर प्रभु मे थी। पर तने की दृढता ही तो यह अवसर देती है कि डाल-पत्ते झूमकर नाचे। हमे लोच या लचीलापन इसलिए तो नही मिला है कि हम अलग-थलग होवे। अलग-अलग दिशा ग्रहण करके भी मूल मे तो हम एक है।

हम भारतीयो के लिये यह प्रख्यात है कि जितने हम हैं उतने ही हमारे देव है। इसका सीधा मतलब यह है कि हम पूरी तौर पर अघुलनशीलता लिये है। परस्पर हम मिलते नही। तथ्य है कि हम समर्पण भाव से जरा भी जुड़े नही है। हमारा तो यही प्रयत्न रहता है कि हमारे अलावा सब हमारे सामने झुके।

हम है श्रेष्ठतम, हम हे सर्वेसर्वा। सत्य यह है कि हम अपने अलावा किसी को कुछ गिनते ही नही है। यह हमे निरा भ्रम रहता है कि हम ही श्रेष्ठ रूप से जानते है। जो हमने जाना है वही सत्य है, तथ्य है, शेष सारा ढकोसला है।

खैर, इन आक्षेपो से कुछ भी लाभ नही। तथ्यरूप मे हमे भ० महावीर के सिद्धान्तो के अनुरूप ढलना है, परस्पर उदार भाव, सहिष्णुता को अपनाना है तथा अपनत्व को विस्तार देना है। पेड का एक पत्ता भी थिरके तो उसे यही समझना होगा कि उसका उल्लास पूरे पेड का उल्लास है।

अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारने से कुछ भी लाभ नही है। हम अपने लाभ-अलाभ की सीमाओ से बाहर आये। हम उसी लाभ को अपने जीवन मे स्थान दे जो सभी के लिये लाभप्रद हो। अन्य का जी दुखाये या उसे बाधा पहुँचाये ऐसे कृत्यो का परित्याग ही करने मे सार है।

क्या हुआ जो हममे से कुछ दिगम्बर है, कुछ स्थानकवासी, कुछ तेरापथी या मूर्तिपूजक। कोई मुँहपत्ती धारक है तो कोई खुले मुँह। कोई नग्न है तो कोई वस्त्रधारी। मूल बात यह है कि हमारा सभी का लक्ष्य, सभी के साधन, सभी के रास्ते, सभी का चिन्तन, सभी का दर्शन एक है। इतने सारे एकत्व मे भला हम क्यो तलाशते है विभेद, प्रभेद या विशृखलताएँ ? एक सूत्र मे बँधे होकर भी हम क्यो बिखर जाने को आतुर है ?

क्या यह विश्वास किया जा सकता है कि हम अपनी अनेकताओ मे भी एकता का बीज रोप सकेंगे और उस परस्पर जुडाव तथा स्नेह के पौधे को लहलहाता देख सकेंगे ? इससे हमें तो लाभ मिलेगा ही, भ० महावीर के सिद्धातो को भी अपनी अपेक्षाओ का सुपरिणाम मिलेगा। श्रद्धालुजनो की आस्था समय के खतरे को समझेगी व आये हुए सकट को टालने की पूरी कोशिश करेगी यह अपेक्षा है, यही अनिवार्यता है। आज हर विद्वान, हर साधु, नेतृत्वकर्ता अथवा समाज-सुधारक का यह दायित्व हो जाता है वह सम्प्रदायवाद एव मेरे-तेरे के विष को समाप्त करने के लिये प्रतिरोध की शक्ति बढाये। □

२७

समाज के अभिशाप दूर करो !

विवाह/परिणय मनुष्य के जीवन की एक ऐसी विधा है जिसके अन्तर्गत वह अपनी सामाजिकता को एक नया आयाम देता है। सर्वथा अपरिचित या अल्प परिचित व्यक्ति व परिवार परस्पर जुड जाते है। परिधि विस्तार पाती है और इसी माध्यम से ससृति भी विस्तार पाने लगनी है।

वधू-पक्ष के माता-पिता अपने अश को वर-पक्ष के माता-पिता को समर्पित कर देते है। इस आदान-प्रदान के मुख्य घटक होते है वर व वधू।

मिश्र मे पिरामिडो मे प्राप्त ममियो के साथ आधुनिक खोज मे देखा गया कि मृत व्यक्तियो के साथ ही जीवन मे उसे प्रिय रही वस्तुएँ भी रख दी जाती थी। राजा-रानी के मामले मे तो जीवित दास-दासियो को भी रखा जाता था। इस उद्देश्य से कि अगले लोक मे ये सब उसके काम आवेगे।

शायद इसी प्रकार की भावना से विवाह के अवसर पर पुत्री को विदा होते समय उपहारस्वरूप उसके प्रिय तथा आवश्यक ससाधन देना प्रारम्भ किए हों या ऐसा ही और कोई कारण रहा हो पर वाद मे यह परम्परा और उससे भी आगे चलकर रूढि वन गयी। परम्परा ही प्रथा है और रूढि कुप्रथा।

नारी जो किसी भी परिवार की धुरी है उसे मात्र एक सम्पत्ति मानने से कई जटिलताये पैदा हुई। यहाँ तक कि कही-कही उसे प्रदान करने मे भी हेठी मानी जाती थी। उसमे स्वाभिमान आडे आता था और उस कारण से जन्मते ही पुत्री को पलग के तले कुचलकर खत्म कर देने की परम्परा भी चली।

उस प्रथा मे कमी आई तो भी नारी प्रवचना से वची नही। वह आपसी लेन-देन के मामले मे उलझ गई। लेन-देन एक प्रतिष्ठा का प्रश्न वन गया और उसके भी वाद मजवूरी वनी, विवशता वनी।

जव यह मजवूरी का तत्व प्रविष्ट हुआ तो अक्षम परिवार की युवतियो ने आत्महत्या प्रारम्भ कर दी या विप देकर मारी जाने लगी। और अगर किसी

तरह विवाह सम्पन्न भी हो गया तो जलाने-मारने की प्रवृत्ति पैदा हो गई। तात्पर्य यह कि बेचारी नारी की तो हर हालत मे मिट्टी पलीद हो गई।

नारी की एक दुर्गति और मामले मे भी उसे सम्पत्ति या प्रतिष्ठा मानने के कारण ही हुई। उसके साथ किया गया बलात्कार भी उसे अभिशाप सौपने लगा। जबकि उन्ही स्थितियो मे मनुष्य का स्वेच्छया दुराचार पुरुष पर कोई आँच नही लाता है।

दहेज की माँग या स्वीकृति अन्ततोगत्वा यही व्यक्त करती है कि भाव-रूप मे वर-पक्ष कितना घिनौना, ओछा व स्वाभिमानरिक्त है। मनुष्य के जीवन मे अनीति के प्रवेश से यह स्थिति और भी जटिल हो गई। व्यक्ति अथवा परिवारो की जुडन अब वास्तविक कहाँ रही ? सब कुछ ढकोसला हो गया है।

लोग कहते है, हम भी देते है इसीलिए माँगते भी है या अपेक्षा रखते है। लेकिन इसमे यह दृष्टि रहनी ही चाहिये कि जिससे लिया जा रहा है उसके लिये उसे अपने आपको रहन तो नही रखना पड रहा है या उसकी आर्थिक स्थिति डांवाडोल तो नही हो रही है। अगर आप सक्षम है तो उसे यह सुविधा तो दे सकते है कि वह अपनी हैसियत से अधिक न दे।

पर उक्त बात को तो एक सुविधापूर्ण बना लिया है। वस्तुत. इस पर विराम ही लगा देने मे क्या हानि है, क्या समस्या है ? विवाह कोई ऐसा बिन्दु तो नही है कि लडकी दे दी और हाथ झटक दिये। बाद मे भी सम्बन्ध तो बना ही रहता है। पुत्री का सुख तब भी पिता को प्रिय रहता है।

कानून अनेक बने। पुत्री का पिता की सम्पत्ति मे अधिकार भी रखा गया है। पर कानून तोडना तो लोगो का शगल है। कानून से भी ज्यादा कारगर है समाज का अकुश। आज भी जाति और समाज एक बडी शक्ति है और इनकी अवहेलना सहज नही है। अतः किसी भी कुरीति को समाज ही अधिक कारगर ढग से मिटा सकता है।

विशेपकर युवा वर्ग अगर संकल्प ले तो इस समस्या से बखूबी निपटा जा सकता है। पर होता यह है कि अपने वर्चस्व के लिए पुत्र भी चाहता है कि उसकी पत्नी धन लेकर आये और पुत्री भी अपनी ससुराल मे अपनी स्थिति की उच्चता के लिये धन ले जाना चाहती है। वस्तुत. यह धन का मद ही ऐसा है कि इसके चगुल से बचना मुश्किल हो जाता है। लोग यह नही सोचते कि उनकी यह चाहना सामर्थ्य-विहीन व्यक्तियो के लिये कितनी बडी समस्या खडी कर देती है।

और फिर धन का मद तो सीमा विहीन है। यह तो जितना भी प्राप्त हो कम ही लगता है। लाखो रुपये का दहेज लेकर गई युवती द्वारा भी आत्मदाह इस बात का प्रमाण है कि लोभ का कोई अन्त नही।

दहेज प्रथा के लिये कहा-सुना तो बहुत गया है। पर वास्तव रूप मे इसके लिये कोई कदम उठा हो, ऐसा बहुत कम देखा गया है। किसी ने विवाह मे कम लिया हो ऐसा कही है तो उसके पूर्व तिलक मे बहुत अधिक प्राप्त कर लिया है या अगले द्वार पर निषेध की तख्ती लगी है तो पिछले द्वार से प्रवेश दे दिया हो।

स्पष्ट रूप से तो इस प्रथा का कोई अन्त नजर नही आता। कुछ लोग अगर साहस कर यह कदम उठा भी लेते है तो समाज उन्हे अपनी ओर से प्रोत्साहन नही देता।

मानव-जीवन की व्यक्तिगत प्रथाओ को केवल समाज ही सुलझा सकता है और समाज को जागृति व प्रेरणा साधु-सत वर्ग दे सकता है। पर दुर्भाग्य से प्रदर्शन-प्रियता मे साधु वर्ग भी फँस गया है। अतः सामाजिक बुराई पर उसका भी ध्यान कम हो गया है।

बुराई निश्चित रूप से बुराई है। उसका हल खोजना अत्यावश्यक है। अत. समाज के इन अभिशापों पर गहन चिन्तन जरूरी है। देखा गया है कि समूह की खातिर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागने को तैयार हो जाता है। इसलिये समूह रूप से दहेज प्राप्ति का परित्याग ही मेरी दृष्टि से सबसे कारगर कदम है। सामूहिक विवाह, विना दहेज के विवाह की व्यवस्था को बढावा व प्रोत्साहन मिलना चाहिये और इनका निर्वाह करने वाले व्यक्तियो को ही युवारत्न, समाजरत्न, साहस-मूर्ति आदि विभूषणो से युक्त किया जाना चाहिये। उन्हे हर क्षेत्र मे प्रतिष्ठा की प्राप्ति होनी चाहिये क्योकि यह उनका हक है और यह यदि उन्हे मिलेगा तो दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करने को तैयार होंगे।

ऐसी ही एक बुराई है मृत्युभोज। यह एक विडम्बना ही है कि जिस व्यक्ति को गहन आघात लगता हो उसे सात्वना देने या कोई और सहयोग देने के बजाय उससे भोजन की अपेक्षा रखना। क्या इससे व्यक्ति की पशुता या क्रूरता व्यक्त नही होती? पता नही समाज मे ऐसे अभिशाप कैसे और कब प्रवेश पा गये? हो सकता है किसी को अपने किसी परिजन की मृत्यु से अकस्मात् ही बहुत आर्थिक लाभ हुआ हो और उसने इस खुशी का इजहार भोज देकर किया हो और फिर औरो पर इसे रूढि बनाकर लाद दिया हो।

जो भी हो, है तो यह पशुवत् कर्म। इसमे व्यक्ति स्वय भी अपने परिजन के प्रति अपेक्षित श्रद्धा भाव व्यक्त नही कर पाता, वह भी उसे भला-बुरा कहने को

वाध्य हो जाता है। अगर आर्थिक सामर्थ्य है भी तो यह प्रवृत्ति एक निर्मम कृत्य तो है ही।

यह बात भी कही जा सकती है कि मृत्यु को विषाद रूप मे न लिया जाये। उस पर रोना-धोना न किया जाये। पर रोने-धोने का या विषाद व्यक्त करने का अर्थ यह तो नही कि उसे भोज जैसी खुशी के द्वारा व्यक्त किया जाये।

अगर वास्तव मे उसे अपने अर्थ का सदुपयोग ही करना है तो उसे मृत व्यक्ति की स्मृति-स्वरूप कोई ऐसा सामाजिक कार्य सम्पन्न करना चाहिये जिससे समाज के व्यथित पीडित लोगो का कल्याण हो। इससे उसकी भावना मे उच्चता आयेगी तथा मृतक के प्रति वास्तविक सवेदना भी व्यक्त होगी तथा व्यक्ति को आत्मतोष भी मिल सकेगा।

समाज की प्रदर्शनप्रियता मे मानवीय भावनाओ की कोई कद्र ही नही रह गई है। न स्थिति देखी जाती है, न स्थिति की नजाकत। इतनी अधिक विकृतियाँ मनुष्य ने ओढ ली है कि मनुष्य के मूल भावो का ही विक्रय हो गया है।

विवाह और मरण के इन रिवाजो के कृत्यो पर हमने इस लेख मे चिन्तन किया है। यह हम और आप तक सीमित होकर न रह जाये। इसे कुछ और आगे ले जाना होगा। इसमे निहित भावनाओ से औरो को भी परिचित कराना होगा, स्वय अपने जीवन मे ढालने के साथ ही औरो तक पहुँचाने की युक्ति भी करनी होगी। तभी तो इस लिखे की सार्थकता है। अगर कुछ व्यक्ति भी इसे अपने जीवन मे ढाल ले अथवा कुछ व्यक्ति भी इसे समाज मे कार्यरूप देने मे संलग्न हो जाये तो यह एक श्रेष्ठतम शुरुआत होगी। यह शुरुआत होनी ही चाहिये। धैर्य सीमा को लाँघ चुका है। अब और अधिक विकृति असहनीय है। समय रहते जागने-चेतने से ही मानव-समाज का कल्याण सम्भव है।

□

२८

हमें एक गति, एक लय, एक तान पाना ही है

जैनधर्म एक शीर्ष धर्म है, यह बात कहूँ तो आज के युग मे कई विवाद पैदा हो सकते है पर यदि मैं इसकी शीर्षता के तर्क दूं तो ऐसा मानने मे किसी को सशय दृष्टि नही अपनानी चाहिये।

मै कहूँ कि यह शीर्ष धर्म है तो इसका यह मतलब भी नही है कि शेप सारे धर्म इसके समक्ष बौने है। वस्तुत एक बडी लम्बी पर्वत शृ खला मे स्थित पर्वत चोटियो मे यह भी एक दिव्यता लिये हुए विद्यमान है। यही मेरा तात्पर्य है और यही भगवान महावीर की अनेकात दृष्टि का हार्द है।

जैनधर्म ने सदियो से मान-अपमान, यश-अपयश, निन्दा-स्तुति पाया है और उन सबके बीच यह अविचल अडिग अपने स्थितप्रज्ञ स्वरूप मे विद्यमान रहा है। यही इसकी विशिष्टता है, यही इसकी दिव्यता है।

जिसने भी जैनदर्शन का नजारा किया है उसका भाव–विश्व समृद्ध हुआ है। दूर से ही नजारा देखने वालो को भला इसके वैशिष्ट्य का भान कैसे हो सकता है?

प्रश्न उठता है कि जब इसमे इतनी दिव्यता है तो यह पृष्ठभूमि मे कैसे चला गया? इसकी गणना हर कोई क्यो नही कर पाया? इसने विस्तार क्यो नही पाया? यह सकुचित दायरो मे कैसे चला गया?

वस्तुतः इसका मुख्य कारण है कि इसके सवाहको का दैदीप्य क्षीण हुआ है। उनमे वैयक्तिक स्वार्थ का उदय हुआ। वे कथनी और करनी मे भेद करने लग गये। उनकी व्यवहार बुद्धि मे अजीब सी सकुचितता व्याप गई है। भगवान महावीर ने हमे अमूल्य सीख दी। जीवन के सारे पहलुओ पर उन्होने स्पष्ट चिन्तन दिया। उन्होने कभी भी अपने द्वारा दिये गये ज्ञान के प्रति कोई चाह प्रकट नही

की थी। पर उनसे प्रेरित हमारी करुणा, जैन समाज की दयाशीलता पर प्रदर्शन का मुलम्मा चढ गया। वणिक बुद्धि जागी। बिना किसी प्रतिदान के कुछ भी देने की परम्परा समाप्त हो गई। ऐसे मे सारी अपूर्वता का ह्रास होना अवश्यम्भावी था। अपनी-अपनी महत्वाकाक्षाये लेकर कई लोग उभरे। सत-गण भी उसी लपेट मे आ गये और धर्म कई फिरको मे बँट गया। बँटता ही चला गया। इससे शक्ति क्षीण हुई।

जैन एक्यता के सुझाव आये। समय-समय पर एकता के प्रयास हुए। कुछ सफलता भी मिली परन्तु यह सफलता स्थायी सिद्ध नही हुई। अत समन्वय, सौहार्द के आज नवीनतम प्रयास किये जा रहे है। कुछ आशा बधी है पर उसमे अब भी अपेक्षित गति नही है। अभी नही तो फिर कभी नही, इस तथ्य को समझ कर अगर जैन-समाज अभी भी नही चेतता है तो उसके अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिह्न लग जाना सम्भव है।

अस्तित्व की बात पर सोचे तो यह तो सम्भव है कि हमारी सकुचितता हमे समाप्तप्राय कर दे पर इससे यह तो नही हो सकेगा कि हमारे दर्शन की दिव्यता ही खत्म हो जाये। वह पृष्ठभूमि मे चला जायगा पर उसकी दिव्यता फिर अन्यो के माध्यम से ही सही, प्रकट होगी।

तो हम अपनी धरोहर की दिव्यता से विलग हो जावे और हमारी उपलब्धि किसी और के माध्यम से प्रकट हो ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति से तो अच्छा यही है कि हम ही अपने दर्शन से अनुकूलता विठलाते हुए इसके योग्य सवाहक बने। यही समय की माँग है और इसे हमे अपनी सोच, अपने धर्म व अपनी जीवन परम्परा मे समुचित स्थान देना ही होगा।

अब हमे कमर कसनी होगी। यह धारणा पुष्ट करनी होगी कि हम सारे विभेद समाप्त कर देगे। हम एक समान अवधारणाओ की ओर अग्रसर होगे। जो विभेद प्रकट हुए है हम उनके कारणो की खोज करे और उन कारणो पर कुठाराघात करे।

समाज का हर व्यक्ति यह निश्चय करे कि वह अपनी हर व्यस्तता मे से कुछ समय इसी बात के लिए देगा कि परस्पर समभाव कैसे पैदा हो। वह इसके लिए ऐसे सगठनो का अवलम्ब ग्रहण कर सकता है जो इस काम मे जुटे है या वह अपने ही तरीके से कार्य कर उसकी रिपोर्ट उन्हे प्रस्तुत कर सकता है।

सतो पर यह आरोप है कि वे इन विभेदो को हवा देते हैं, बढावा देते है। मेरा यह मानना है कि अधिकाश सतो मे तो यह प्रवृत्ति नही है। कुछ सत अगर

इसको वल देते है तो इसमे लगता है कि उनके पीछे स्थित समाज का भी सहारा है। अगर श्रावक वर्ग ऐसे सतो से विनम्र अनुरोध करे तो कोई कारण नही कि वे अपने मन को समन्वय, संगठन के लिये तैयार न करे।

जो दिव्यता हममे है वह जग जाहिर है उसे बार-बार उच्चारने मे कोई वडी तुक नही है। उस दिव्यता के वोझ के तले हम दव रहे है, पिस रहे है जवकि होना यह चाहिए कि हम उसे वोझ न समझते हुए उसे आगे वढाने, औरो तक पहुंचाने मे सक्षम वने और सक्षमता केवल एकतान होने मे ही है। जैसे एक ही सुर मे सधे हुए सारे वाद्य एक तार की थिरकन के साथ ही सक्रिय हो उठते है वैसी ही एक तान, एक गति, एक लय हमे सारे समग्र समाज मे लानी होगी।

हमे स्वार्थ को नही, सेवा को प्राथमिकता देनी होगी। आप-सेवा की बजाय समाज-सेवा को महत्व देना होगा। समाज का उत्थान इसी से है। वह उठेगा तो हम भी उठ पायेगे। प्राय. देखा जाता है कि समाज-सेवी परिवार आदि से कट जाते हैं पर इसका कारण है उसमे रचनात्मकता का अभाव व व्यर्थ के उपक्रमो के प्रति अधिक रुझान। एक सतुलन तो वनाये ही रखना होगा।

कार्य के प्रति प्रशसा पाने का भाव हर व्यक्ति मे होता है परन्तु प्रशसा ही प्रमुख हो जाये और कार्य गौण तब चिन्ता होने लगती है। यह तो एक सौदा हुआ। विना सौदेबाजी के अगर कार्य सम्पन्न हो तो उसकी प्रशसा अवश्य होगी और यही प्रशसा स्थायी होगी। इससे कार्य भी सम्पन्न होगा।

समाज के युवाओ को इस स्थिति के निर्माण के लिये विशेष योग देना होगा। वे किसी भी प्रकार की हठधर्मी न ग्रहण करे। जो हठी है, आग्रही है, मैं नही कहता कि उन्हे परे रख दे या उनकी अवहेलना करें पर बार-बार, धैर्य धारण करते हुए उन्हे अपना आग्रह, अपना हठ त्यागने की स्थिति मे लावे। आखिर लहर की कोई मार तो चट्टान को तोडेगी ही।

मैं तो वहुत आशान्वित हूँ और एक तरह से इस धारणा को लेकर ही चल रहा हूँ कि अपनी आत्म-साधना के प्रति सलग्न होकर भी समाज की, आज की आवश्यकता पर भी सजग दृष्टि रखूं और मेरे चिन्तन से, मेरी सोच से जो उचित है, जो योग्य है और जो आज अत्यावश्यक है उसे सवके सामने प्रकट करूँ।



२९

प्रश्नों की चिनगारी

अतीत, अतीत है !

वर्तमान, वर्तमान है !

अतीत पर आँसू बहाना भी व्यर्थ है।

वर्तमान को आकाशी बना लेना भी निरर्थक है।

—हम आपकी स्वीकृति लेकर अतीत को वर्तमान से जोडना चाहते है। साथ ही इसके दूसरे पक्ष को अतीत से तोलना चाहते है।

आइये, आपको हम मुनि-जीवन की एक जीवत सामाजिक समस्या के कठघरे के दर्शन कराये। कठघरे शब्द से आप नाराज तो नही है ? हो सकता है, आप निमिष भर को आक्रोश से भर जाएँ। परन्तु सत्य को स्वीकार करने के लिये सत्यान्वेषी को यह सब स्वीकार कर लेना चाहिये।

प्रत्येक युग एक सीमा मे बधा होता है। सीमा से आगे उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। अतीत भी एक सीमा मे बधा था। पहले श्वेताम्बर मुनि, स्थानकवासी मुनि और तेरापथी मुनि सभी लकडी के पात्र रखते थे। आज भी रखते है। अब कुछ मुनि, क्योकि वे प्लास्टिक युग मे जी रहे है अत प्लास्टिक के पात्र भी रखने लगे है। अब पुरानी पीढी जो पुराने सस्कारो से विद्ध है, वह यो विकल है कि प्लास्टिक के पात्र रखने लगी है नई पीढी। अब साधुत्व तो भूलुठित हो गया। कहाँ रहा साधुत्व का गौरव !

नई पीढी विनम्रतापूर्वक सस्कार विद्ध पीढी से कहना चाहती है—प्लास्टिक के पात्र रखने मात्र से साधुत्व भूलुठित नही होता। हम साधुत्व को मडित करना चाहते है, खडित नही।

यह ठीक है कि पुरानी पीढी सस्कारवश काष्ठ-पात्र मे साधुत्व को गौरवान्वित अनुभव करती है परन्तु वह आचार-ग्रन्थो की साध्वोचित्त इस कसौटी को क्यो भूल रही है कि जो भी वस्तु साधु द्वारा व्यक्तिगत जीवन के लिए ग्रहण की जाए वह निष्पाप-निर्मल हो। निमित्त वाली वस्तु उसके लिए अग्राह्य है। यदि यह आधार सत्य है, आचार-ग्रन्थो का यह मानदण्ड उन्हे स्वीकार्य है तो नई पीढी के

कतिपय तर्कयुक्त प्रश्न हैं उन पर भी विचार कर लिया जाए और अतीत को वर्तमान से तोल लिया जाये।

(१) काष्ठ पात्र लेने जाइये। आपसे पूछा जायगा—कैसे पात्र चाहिए? श्वेताम्बर मुनि के पात्र, स्थानकवासी मुनि के पात्र या तेरापथी मुनि के पात्र?

—जाहिर है ये अलग-अलग पात्र मुनियो के निमित्त बनते है। इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न भी है। उस पर भी ध्यान दें। जब हरा-भरा वृक्ष काटा जाता है तो उस समय 'ढूंढिया महाराज की जय' बोलकर वृक्ष पर कुल्हाडी से प्रथम प्रहार किया जाता है। बताइये काष्ठ-पात्र निमित्त-पात्र हुआ या नही? पात्रो का इस्तेमाल जैन-मुनियो के अलावा कोई करता हो तो मान भी लिया जाय कि मुनि जन निर्दोप काष्ठ-पात्र की गवेपणा कर लेते हैं।

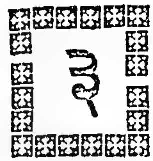
(२) प्लास्टिक पात्रो मे गिलास, बाल्टी, कटोरी, लोटे, पात्र-आकृति के प्याले (जो एक दूसरे पात्र मे समा जाते हैं) आदि विभिन्न प्रकार के सोफ्ट और हार्ड पात्र बनने लगे है। ये विभिन्न प्रकार के पात्र अर्थ-सुलभ व अल्पव्ययसाध्य होने से सामान्य घरो मे तो सुलभ होते ही हैं, बडे-बडे कल-कारखानो, होटल, धर्मशाला, मकान, दुकान सर्वत्र उपलब्ध होने लगे है।

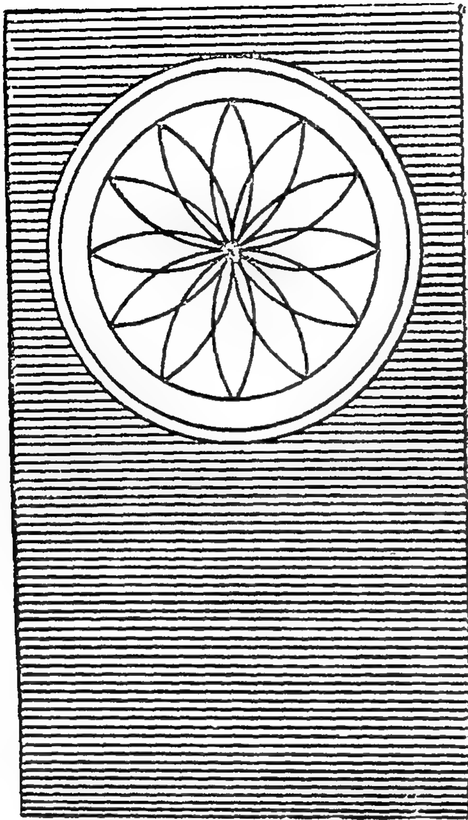
—साधु सामाजिक साधक ही तो है। उसे जहाँ भी अपने उपभोग की और सुविधाजनक निर्दोप वस्तु प्राप्त होती है, यदि वह आवश्यकतानुसार उक्त पात्रो मे से कुछ लेता है और इस्तेमाल करता है तो इससे उसका साधुत्व खडित कैसे हो सकता है? निमित्त-नैमित्तिक के परिप्रेक्ष मे सोचा समझा जाये तो काष्ठ-पात्रो से कही अधिक निर्दोप ये पात्र क्यो नही है? अवश्य है।

तो पुरानी पीढी के सस्कारो से बिंधी पीढी को आदरपूर्वक हम कहना चाहते है—काष्ठ-पात्रो का उपयोग करने पर ही साधुत्व सुरक्षित रहता है इस कठघरे से वे बाहर निकल आये और नई पीढ़ी को समन्वय भाव से देख हृदय को उदार बनायें।

हम नही कहते है कि "नई पीढी पुरानी पीढी की बात नही मानती तो हम क्या करे? हम तो विवश हैं।" इस तरह कुण्ठा मे रहने की आवश्यकता ही नही है। प्लास्टिक युग की सहज सुलभता को देखें, परखे और खोज करें कि यदि कोई मुनि इस तरह के पात्र रखता भी है तो वह काष्ठ-पात्रो की तुलना मे कितना निर्दोप और कितना सदोप है।

—यह एक प्रश्न चिनगारी है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी—प्रश्नो की चिनगारी के पक्ष-विपक्ष मे नई-पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई भी पाठक तर्कसंगत विचार चिनगारी कलम बन्द कर प्रेपित कर सकता है। तपोधन उसके स्वागत के लिए उदार मन से प्रतीक्षारत है। □





प्रेरणा की प्रकाश

किरणें



महावीर ने आत्मा को पुरुष 'पुरिसे' कहा है।

पुरुष जब जागृत होता है तो 'सत्पुरुष' और सुप्त/मूर्च्छित होता है तो 'कापुरुष'।

सत्पुरुष संस्कृति की, समाज की, इतिहास की एक अमूल्य धरोहर है। उनकी स्मृति हमारी अनुभूतियों में अभिव्यक्ति पाये—इसके लिए पर्व, त्यौहार, उत्सव, समारोह मनाये जाते हैं।

सत्पुरुषों का स्मरण, चरित्र और यशोगान—केवल एक लीक पीटना नहीं, किन्तु परम्परा को पुनर्जीवन देना है। उनकी शक्तियों का आव्हान कर अपने भीतर जागरण करने की जादुई कला है—पर्व मनाना, जयन्ती मनाना।

हम इसे एक आधार के रूप में लेकर चलें। लक्ष्य की ओर बढ़ने में त्वरा आयेगी शक्ति जगेगी, स्फूर्ति मिलेगी, अनुभूति मिलेगी।



१

दृढ़ता की प्रतिमूर्ति : सत्पुरुष

चीनी दार्शनिक कन्फ्यूशियम का कथन है कि—"महान आत्माओ की इच्छा-शक्तिया होती है, दुर्वल आत्माओ की केवल इच्छाये।"

केवल इच्छाओ मे दृढता की खोज वेकार है। दृढता मन पर काबू करने मे ही आ पाती है। मन यदि काबू मे है, मन मे यदि सन्तुलन है, तो हर मनोवाछा पूरी हो सकती है।

धम्मपद मे एक कथन है—

फन्दन चपल चित्त, दुक्ख दुन्निवारय।
उजु करोति मेधावी, उसुकारोव तेजन॥

इस चपल, चचल, दुर्लक्ष्य, दुर्निवार्य चित्त को मेधावा उसी प्रकार सीधा करता है जिम प्रकार वाण चलाने वाला बाण को।

वाण चलाने वाला एकाग्रचित्त से अपने लक्ष्य के प्रति सजग रहता है। अचपल, अचचल व्यक्ति उसी एकाग्रता को धारण करता है और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

इस कलिकाल मे भी पर्वत के समान अचल है सत्य रूप। या कहे पर्वत भी एक वार धरा के कपन से डिग सकता है परन्तु सत्पुरुष का धैर्य हर स्थिति मे कायम रहता है। अनेको प्रलोभन भरे इस ससार मे दृढता वनाये रखना महा दुष्कर है।

सत्पुरुष का मुखौटा धारण किये कई लोग मिल जायेंगे। वे अपनी सच्चरित्रता, उच्चता का खुलकर प्रदर्शन करते भी मिलेंगे। परन्तु वे ही लोग जव अपनी वास्तविकना मे दुश्चरित्र अथवा पतित अवस्था मे पाये जाते हैं तो लोगो की आस्था डगमगाने लगती है।

वस्तुत सत्पुरुष की कथनी व करनी मे एकरूपता होती है। स्थानाग सूत्र मे कहा गया है—

'जहावाइ तहाकारी'—सत्पुरुष वही है जो जैसा बोले वैसा ही करे। इसी बात को भर्तृहरि ने अपने नीति शतक मे भी कहा है—

'चित्ते वाचि क्रियायां च साधूनामेकरूपता।'

सत्पुरुषो के मन, वचन और क्रिया मे समानता होती है। जहा वाचा और क्रिया मे एकरूपता नही है वह वाचा, वह कथन मिथ्या है, दभ है, निरा शब्द-जाल है।

सत्पुरुष को न ममत्व प्रिय है और न ही अह को वह अपने जीवन मे स्थान देता है। ममत्व और अह ये ऐसे तत्व है जो व्यक्ति को अपनी स्थिरता मे नही रहने देते। ये उसमे विमोह, कामनाएँ व भावनाएँ जगाते हैं। इससे व्यक्ति अशात चित्त हो जाता है। गीता का एक कथन दृष्टव्य है—

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमाश्चरति निःस्पृहः।
निर्भयो निरहकारः, स शांतिमाधिगच्छन्ति॥

जो पुरुष सब कामनाओ का त्यागकर इच्छा, ममता और अहकार रहित होकर विचरता है, वही शाति पाता है। वही सिद्धि पाता है। वही मुक्ति पाता है।

श्मशान भूमि मे स्थिर हैं गजसुकुमाल मुनि। तपस्या रत है। उधर से निकल रहे है ब्राह्मण सोमिल, जिसकी कन्या सोमा से विवाह का प्रस्ताव त्याग चुके थे गजसुकुमाल। ब्राह्मण का वैर जाग उठता है। वह क्रुद्ध और उत्तेजित होता है। पहले आकर अनर्गल प्रलाप करता है, मुनि स्थिर है। फिर वह इधर-उधर देख गीली मिट्टा लाकर एक कुटिल योजना बनाता है। वह मुनि के सिर पर मिट्टी थेप देता है, मुनि स्थिर हैं। मिट्टी एक सिगडी का आकार ले लेती है। अब सोमिल पास ही एक जलती चिता से अगारे उठाकर उसमे रख देता है, मुनि स्थिर है।

अगारे धधक उठते है मुनि के मस्तक पर। शरीर से स्नेह पाकर वे ज्वाला रूप बन जाते है। मुनि यदि चाहते तो एक झटके मे उसे अलग फेंककर बच सकते थे पर मुनि स्थिर हैं।

देह भयकर वेदना का अनुभव करने लगती है। शिराएँ तप्त होकर सुलगने लगती है। शरीर मे स्थित चर्बी मे चिटक की आवाज होती है। वातावरण उस दुष्कृत्य पर कराह उठता है पर मुनि स्थिर हैं।

मुनि जानते हैं यह वेदना देहगत है। शरीर जल रहा है इसमे मेरा क्या जल रहा है। मैं तो अजर, अमर, अविनाशी हू। सोमिल के मेरे प्रति पूर्व जन्म के ऋण है, मै उन्हे चुका रहा हूँ, उनसे मुक्त हो रहा हूँ। ऐसी उच्च भावनाओ से युक्त होते है मुनि और वे स्थिर हैं।

उनमे न राग है, न द्वेष है। वे स्थितप्रज्ञ है। केवलज्ञान, केवलदर्शन के साथ मुनि गजसुकुमाल शुद्ध, बुद्ध व मुक्त होते है। केवल एक रात्रि की साधना मात्र से उन्होंने दुष्प्राप्य को पा लिया है।

सुश्रावको, देखा आपने! अडोल व अचल मन स्थिति ने कैसा अपूर्व योग घटित किया। अत जीवन मे पल-पल का सन्तुलन एक विशेष महत्व रखता है। सघर्षों मे स्थिरता सफलता देती है। जटिल मे जटिल स्थिति भी एकाग्रचित होकर सुलझाई जा सकती है।

जितना प्रयत्न आप देह के प्रति करते हैं, उसे प्रसाधनो से सुसज्जित करते है, उसे अलकृत करते है और उसके विमोह ने अकरणीय भी करने मे नही चूकते है। प्रतिफल मे मिलती है आपको तृष्णा, एक अनबुझ प्यास। आप कही नही पहुँचते, आप निरन्तर भटकते हैं। इतना ही प्रयत्न यदि आत्मा के स्थैर्य के प्रति करते है, उसे ही अचाचल्य से अलकृत करते हैं तो आप अपने प्रति किसी भी विमोह मे वचित रहते है। आप तृष्णा से मुक्त होते है। आपके भटकाव का अन्त आ जाता है। आपका सत्पुरुषत्व जाग उठता है।

सत्पुरुषो की सकल्पदृढता का एक प्रसग प्रस्तुत है—

विजय और विजया वय मे दोनो युवा। धर्म के प्रति दोनो मे निष्ठता। एक बार प्रवचन के दौरान विजय ने सकल्प ग्रहण किया कि वह यावज्जीवन कृष्ण पक्ष मे ब्रह्मचर्य का पालन करेगा। एक बार प्रवचन के मध्य विजया ने सकल्प ग्रहण किया कि वह जीवन पर्यन्त शुक्ल पक्ष मे शील व्रत का निर्वाह करेगी। सयोग देखिए, वही विजय और वही विजया दाम्पत्य-सूत्र-बन्धन मे बँध जाते हैं। प्रथम-रात्रि! विजया शुक्ल पक्ष के कारण अपने शील सरक्षण मे विजय का सहयोग चाहती है। विजय स्तब्ध रह जाता है। विजया विचार करती है, क्या बात है उसके पति को उसका शुक्ल पक्ष का शील-व्रत सुहाया नही? क्या वह इतना भी त्याग नही कर सकता? परन्तु जब विजय ने अपने कृष्ण-पक्ष का सकल्प उसे बतलाया तो अब स्तब्ध रह जाने की विजया की बारी थी। दोनो द्विविधा मे पड गये। दाम्पत्य-सूत्र मे यह कैसी बाधा, कैसा व्यवधान? विजया ने प्रस्ताव रखा कि विजय दूसरा विवाह करले। विजय के त्याग की कठिन परीक्षा थी पर दोनो ही सत्पुरुष की श्रेणी मे आते थे। दोनो ने दाम्पत्य को शील से जोड दिया। वे पति-पत्नी रूप मे रहकर भी ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। और अतत दोनो ने दीक्षा ग्रहण करली।

यदि उनमे से एक अस्थिर होता तो क्लेश वढता। दोनो मे अस्थिरता होती तो सकल्प टूट जाता। परन्तु उनके अटूट वन्धन मे दोनो की धीरता, वीरता और त्यागमयता ने एक अपूर्व प्रमाण प्रस्तुत कर दिया। कोई प्रलोभन—वासना का कोई भी सूत्र उन्हे वाध नही पाया। वे तो आत्म-वन्धन मे वधे रहे। जीवन को उन्होंने सार्थकता से भरा।

स्थिरता उन्हे प्रिय है जो आत्म से जुडे है। स्थिरता के सवसे वडे प्रमाण भ महावीर हुए है। वडी उत्कृष्ट थी उनकी स्थिरता। भ महावीर की स्थिरता के वावत इन्द्र ने विवरण दिया तो वह अभिभूत था। परन्तु सगम देव को विश्वास नही हो रहा था। वह प्रत्यक्ष प्रमाण चाहता था। वह चल पडा स्वय परीक्षा लेने। उसने उपसर्गो की एक शृंखला चलाई। विना वनाये उसने स्वय को भ महावीर का शिष्य कहना शुरू कर दिया।

लोगो से अनर्गल कथन करता। कहता कि वह मौका व स्थान देख रहा है ताकि उसके गुरु रात को चोरी करने के लिए उसके इगित किये स्थलो पर आवे व चौर्य कर्म कर सके। इस पर लोग सशय करते पर स्वय शिष्य ही जव कह रहा है तो सशय का क्या काम ? वे भगवान के पास आते, मारते-पीटते, गालिया वकते। अपने कथन के प्रमाण स्वरूप वह कुछ भी वस्तु चोरी कर लेता और लाकर भ महावीर के समक्ष रख देता। इस तरह वह भ महावीर के प्रति लोगो मे दुर्भाव पैदा कर उन्हे कष्ट दिलवाता। पर उसे आश्चर्य होता। भ महावीर उन कष्टो से जरा भी विचलित हुए वगैर अपनी साधना मे लीन रहते।

भगवान विचार करते, यह मेरे पूर्वकर्मो का उदय है। मुझे समभावपूर्वक इन्हे सहना चाहिए।' वे सहते रहे। सगम देव ने क्रमश अपने प्रकोप वढाए और एक रात्रि वह पूर्णत नृशस हो गया। उसने भ महावीर को वीस मारणान्तिक कष्ट दिये जो क्रमश इस प्रकार है—

१ धूल की वर्षा।
२ वज्रमुखी चीटियो द्वारा शरीर का छेदन।
३ वज्रमुखी डास वनकर काटना।
४ दीमक द्वारा शरीर छलनी करना।
५ विच्छुओ द्वारा दश।
६ भीमकाय सर्पो के दश।
७ नेवले द्वारा नाखून व मुँह मे शरीर विदीर्ण करना।
८. चूहो द्वारा कुतरा जाना।
९ हाथी व हथिनी द्वारा कदुक के समान हवा मे उछाले जाना।

१० हाथी व हथिनी द्वारा दांतों से प्रहार व पैरों तले रौदना।
११ भयकर पिशाच द्वारा भयावह अट्टहास द्वारा धमकाना।
१२ बाघ बनकर छलाग लगाकर नखो से विदारण करना।
१३ सिद्धार्थ और त्रिशला के रूप मे करुण विलाप करना।
१४ कानो मे तीक्ष्ण मुख वाले पक्षियो के पिजडे बाधे, उनके द्वारा चोचो से तीक्ष्ण प्रहार।
१५ दोनो पैरो के मध्य अग्नि का प्रज्वलन।
१६ आधी का रूप खडाकर शरीर को ऊपर उठाना व गिराना।
१७ कलक कलिका वायु उत्पन्न कर चक्र की तरह गोल घुमाना।
१८ कालचक्र चलाकर घुटनो तक जमीन मे धसा देना।
१९ लोहे का गोला मस्तक पर आघातपूर्वक गिरा कर कष्ट देना।
२० रात्रि रहते प्रभात तक अप्सरा द्वारा रागपूर्ण चेष्टाओ द्वारा लुभाना।

इतने पर भी सतोष न हुआ और भगवान अडोल रहे तो सगमदेव लज्जित हुआ। वह और अनेक उपक्रमो से कष्ट देता रहा। जब इन्द्र ने इन सारी घटनाओ को जाना तो वह कुपित हुआ और सगमदेव पर वज्र से प्रहार किया। सगमदेव छह माह तक चीत्कारता रहा। इन्द्र ने उसे स्वर्ग से निष्कासित कर दिया। वह मेरु पर्वत की चूला पर जाकर रहने लगा।

इसी क्रम मे अब सुनिये दृढप्रहारी का प्रसग। दृढप्रहारी ब्राह्मणपुत्र था पर वह मद्यपान, मासभक्षण, द्यूत, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनो मे रत रहता था। नगरवासियो से तिरस्कृत होकर वह चोरो की पल्ली मे जा पहुँचा व डाके डालने लगा। होते-होते वह उनका अधिपति बन गया। उसका रवैया देख अब उसे कोई ब्राह्मण नही समझता था। उसे हेय कर्मो मे प्रवृत्त देख सब उसे नीची जाति का मानने लगे।

एक समय बुरी तरह लताडा गया। लताडने वाली ब्राह्मणी थी। दृढप्रहारी तैश मे आ गया और उसने क्रमश ब्राह्मणी, ब्राह्मण व गाय को तलवार के प्रहार से मार डाला। गाय गर्भवती थी। उसका शिशु पेट से बाहर गिरकर तडफडाने लगा।

दृढप्रहारी द्रवित हो उठा। उसका अतस् जाग उठा। वह केशलु चन कर साधु बन गया। पापकर्म की निर्जरा अधिक हो इस उद्देश्य से वह प्रतिशोध से ग्रस्त लोगो के समक्ष ही शहर के बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित हो गया। लोग आते और उसके अतीत को स्मृत कर तथा अपने दुख पर विचार कर उसे गालियाँ देते, पत्थर से पीटते पर दृढप्रहारी जो अब एक सत्पुरुष बन चुका था शैल सम अडिग रहा। छह माह तक कठोर तपश्चर्या करता हुआ क्रमश नगर के चारो दरवाजो

पर स्थित हुआ। तब उसके पूर्वार्जित कर्मों का नाश हुआ और उसने केवलज्ञान प्राप्त किया।

सत्पुरुषो को अपनी श्रेष्ठता का डका नही पीटना होता है। उनके कार्य स्वय ही उनकी उत्कृष्टता को व्यक्त करते है। कहा गया है—

ब्रुवते हि फलेन साधवो
न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्।

नैषधीयचरित मे आए इस कथन का अर्थ है—

सत्पुरुष वाणी से अपनी उपयोगिता नही बतलाता। वे भले कार्य से अपनी उपयोगिता बतलाते है।

सत्पुरुष मार्गद्रष्टा होता है। उसके इगित भटकाव से उबारते है। महाभारत मे एक कथन है—

'सन्तो दिग्'

—सत्पुरुष दिशा के समान है।

आज के युग मे जब समाज एक दिशाहारा का स्वरूप ग्रहण कर चुका है तब सत्पुरुष का अनुभवसिद्ध सकेत ही उसे सही दिशा मे ले जा सकता है। दिशाहीनता एक बहुत बडी यत्रणा है। दिशाद्रष्टा एक बहुत बडा उपकारक है।

एक प्रसग है श्रमणोपासक अरणक का। जिसने अपनी दृढता के बल पर एक विभीषिका का सामना किया और अपने सह अनेको को उसने उबारा—

अरणक एक वैभवशाली वैश्य था। वह चम्पानगरी मे वास करता था। जैन धर्म मे अटूट श्रद्धा रखता था वह। उसका प्रमुख व्यवसाय समुद्र मार्ग से था। व्यवसाय सदर्भ मे वह इस मार्ग से जाता था। इस व्यवसाय मे उसे काफी अर्थ की प्राप्ति होती थी। ऐसे ही एक अवसर पर वह काफी माल भरकर अन्य व्यवसायियो सह रवाना हुआ।

मौसम बडा अनुकूल था। यात्रा बडी सुखद चल रही थी। पर अचानक ही एक विपदा उठ खडी हुई। अचानक ही आकाश मेघो से आच्छादित हो गया। बिजली कडकने लगी। एक भयकर दैत्य अट्टहास करता हुआ दिख पडा। वह बडा विकराल था। उसकी दोनो जघाये ताड वृक्ष के समान लम्बी व पतली थी। भुजाये आकाश घेरे थी। वह अत्यन्त श्याम वर्ण, लम्बे होठ, मुँह से निकले दाँत वाला था। जीभ बाहर लटक रही थी। सिर उल्टे घडे के समान था। सूप की तरह लम्बे

कान वाला था। बाल बिखरे हुए थे। स्थूण्डल की जगह फुत्कार करते हुए दो बडे-बडे सर्प थे। गले मे मुण्डमाल थी। कधो पर सियाल व बिल्ली बैठे हुए थे। हाथ मे नगी तलवार थी।

जहाज के यात्री भयग्रस्त हुए। न टलने वाले उपसर्ग से सब स्तब्ध हो उठे। वे चूलदेवो को याद करने लगे। अरणक जरा भी विचलित नही हुआ। उसने कहा—यदि हमारा जीवन इतना ही है तो हमे कोई नही बचा सकता और यदि लम्बा जीवन है तो कोई हमे मार नही सकता। जीने के लिए हमारे मन मे आतुरता नही होनी चाहिए और मरने के समय व्यग्रता नही होनी चाहिए।

अरणक के सहयोगियो पर उसके कहे का कोई असर नही हुआ। पुन अरणक ने कहा—"वास्तविक शरण चार है (१) अरिहत (२) सिद्ध (३) साधु और (४) केवली प्ररूपित धर्म। मै अब इन्ही चार की शरण ग्रहण करता हूँ, आप भी निर्भय होकर ऐसा ही करे।"

दैत्य जब निकट आया तो अरणक के अलावा सब कापने लगे। वे अरणक के कहे का पालन करने मे असमर्थ रहे। केवल अरणक अविचल व बिना भय के बैठा रहा। वह समाधि धारण किये था। अरिहत व सिद्धो के प्रति उसने नमोत्थुण का पाठ किया और सागारी अनशन लेकर वह धन, परिवार तथा अपने शरीर के ममत्व से विरहित हो गया।

दैत्य चिघाडता हुआ आया। थर-थर कापते जहाज के यात्रियो को देख उसने भयकर अट्टहास किया। पर ध्यानमग्न अरणक को देखकर वह खीझ उठा। अपनी भयावहता से उसे ग्रस्त न देख वह भयकर वाणी मे बोला—

"रे मूढ! तू मेरे जैसे शक्तिसम्पन्न के आगे चुनौती बना बैठा है। मै अभी तेरी दृढता को थर-थर मे बदल दूँगा। देख, मै अभी इस जहाज को ऊँचा उठाऊँगा और चक्करघिन्नी खिलाते हुए इसके टुकडे-टुकडे कर फेंक दूँगा। इसके पहले मैं तेरे सामने तेरे इन साथियो को अपने हाथो से पीस कर रक्तहीन कर समुद्र मे फेंकूँगा। इन सबकी मृत्यु का पाप तेरे सिर लगेगा।"

दैत्य के इस कथन पर अरणक के साथी और भी अधिक भय से भर उठे। वे भी अरणक को कायोत्सर्ग छोडने को कहने लगे। दैत्य ने ऐसा एक बार, दो बार, तीन बार कहा पर अरणक अपने धर्म मे दृढ रहा।

श्रमणोपासक अरणक को अपने व्रत से विचलित करने के लिए दैत्य व अरणक के साथियो ने भरसक प्रयत्न किये पर अरणक अपने धर्म से रच मात्र भी डिगा नही। अतत दैत्य को हार माननी पडी। उसने अरणक के पाँवो मे गिरकर

क्षमा याचना की। दैत्य का स्वरूप त्याग उसने दैव रूप ग्रहण किया। वास्तव के वह अरणक की दृढधर्मिता की परीक्षा लेने ही आया था।

इस प्रकार हम देखते है कि दृढता के वल पर अरणक ने आई मुसीवत को झेला तथा यह प्रमाण प्रस्तुत किया कि दृढता जिसने भी जव भी धारण की उसे किमी भी सकट से उवरने क. रास्ता मिला।

दृढता से मुसीवत का सामना करने का एक और प्रसग देखिए जो स्वाभी विवेकानन्द के साथ घटा। प्रसग यो है—

जब स्वामी विवेकानन्द एक तीर्थ पर पहुँचे। वहाँ एक वडे आकार का वन्दर उनके पीछे पड गया। स्वामीजी वचने के लिए भागने लगे। वन्दर भी पीछे भागा। पर सहसा स्वामीजी को महसूस हुआ, उनका यह निर्णय उचित नही है। वे रुक गये, वे दृढ हो गये, वन्दर निकट आया तो उन्होने घोष किया। उसे ललकारा। वन्दर के लिए यह नई वात थी। उसे कभी इस प्रकार से सामना करने वाला न मिला था। अब वह पीछे मुड भागने लगा।

स्थितियो मे अविचल रहने का यह भाव केवल सत्पुरुषो मे ही सम्भव है। सत्पुरुषो को अपनी आत्मा की आवाज स्पष्ट सुनाई पडती है। ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही अचल रह सकता है। सूत्रकृताग चूर्णि मे एक कथन है—

ज्ञानधनानां हि साधुना किमन्यद् वित्त स्यात्

जिनके पास ज्ञान का धन है, उन साधु पुरुषो को और क्या धन चाहिए।

सलीब पर चढा दिया गया ईसा को। पर वह सत्पुरुष था। जरा भी विचलित नही हुआ। उल्टे यह कामना करने लगा कि—

"हे पिता, इन्हे क्षमा कर, क्योकि ये नही जानते कि ये क्या कर रहे है ?"

ईसा जानते थे—यह दुःख कुछ ही क्षणो का है। यह दुःख चिरकाल तक नही रहेगा। अविचल अवस्था वाला व्यक्ति ही ऐसा महसूस कर सकता है अन्यथा चचल वृत्ति का मनुष्य जो क्षण मात्र को वहुत वृहद् देखता है और पीडा उसे वहुत वडी लगने लगती है वह चीत्कारता है। तृण के समान काँपने लगता है। उससे शैलसम अचल होने की अपेक्षा रखना व्यर्थ है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे एक कथन आता है—

'मेरुव्व वाएण अकंपमाणो'

—वायु से नहीं हिलने वाले मेरु पर्वत की तरह धीर पुरुष कष्टो मे विचलित नही होते।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे इसी बात को यो कहा गया है—

'ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः'

—घोर वातुल मे भी पर्वत कम्पित नही होते, उसी तरह दृढचेता सत्पुरुष कष्टो की झझा से विचलित नही होते।

उत्तम पुरुष प्राण भले ही दे दे पर विकारो से बचते है। भर्तृहरि का एक कथन है—

'न प्राणान्ते प्रकृतिर्विकृतिर्जायते चोत्तमानाम्।'

—उत्तम पुरुषो के भले ही प्राण चले जाये, उनकी प्रकृति मे विकार नही आता।

सत्पुरुषो की उत्तमता उनके अविचल रहने मे है और चूँकि वे अविचल रहते है इसीलिए सत्पुरुषो की श्रेणी मे आते है। □

२
अभिग्रह : आत्मौपम्यता के द्योतक

कभी-कभी साधक के मन मे कुछ ऐसे विचार उभर आते है जिसे सामान्य ढग से कोई देखे तो वडा बचकाना विचार लगता है। ऐसा विचार जो लगभग असम्भव सा होता है। जिसकी पूर्ति होने की कोई सम्भावना नजर नही आती। विशेषकर इसलिये कि उस विचार को प्रकट नही किया जाता। मन ही मन किये गये इस सकल्प को अभिग्रह कहते है।

ऋषभदेव से लेकर महावीर तथा उनके पश्चात् भी अनेक सन्तो ने अभिग्रह धारे व उनकी प्रतिपूर्ति तभी की जव उनके विचारो के अनुकूल वातावरण मिला। भगवान महावीर द्वारा चन्दनवाला से किया गया आहार-ग्रहण भी ऐसे ही तेरह वोल के फलने पर ही किया गया।

महान तपस्वी गुरुदेव श्री वेणीचन्दजी महाराज के तप व अनेक वार लिये गये अभिग्रह प्रख्यात है। अभी-अभी मुझे किशनगढ प्रवास मे मेहता परिवार की एक ६० वर्ष मे भी अधिक उम्र की श्राविका से तपस्वीजी के एक अभिग्रह की जानकारी मिली है। यह जानकारी इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि अभी तक इसकी जानकारी किसी को नही थी। इसका उल्लेख पूर्व मे कही नही मिलता है।

उक्त वृद्धा के सास-ससुर के माध्यम से ही उनका यह अभिग्रह फला था। इसके पूर्ण होने मे एक महीना व दो दिन का समय लगा। इस अभिग्रह की विशेपता यह भी थी कि इसमे भगवान महावीर के चन्दनवाला से फले अभिग्रह के समान ही तेरह वोल थे। हालांकि वे तेरह वोल एकदम भिन्न थे लेकिन आंसुओ का उनमे भी विशेप महत्व था।

यह प्रसग सुनाकर वह वृद्धा तो विदा हो गई परन्तु मेरे मन मे उस द्रव्य अभिग्रह के वे वोल तथा उसकी पूर्ति का जो खाका खीचा गया था, वार-वार उभर रहा था। उस अभिग्रह की पूर्ति करने वाले परिवार की उस महिला से जानकर उसके वारे मे कोई सशय का भी प्रश्न नही था।

मन मे कई उद्‌भावनायें उभरी। काफी विचार शृंखलायें तिरी और मैंने तभी राहत महसूस की जब यह विवरण कागज पर उतारना प्रारम्भ किया। सौभाग्यशाली हूँ कि एक अनजानी त्रिगत के वावत मै अपने माध्यम से इस रहस्य पर से पर्दा उठा रहा हूँ। इस लेख के माध्यम से आप तक पहुँचा रहा हूँ।

तपस्वी श्री वेणीचन्दजी महाराज लगातार २७ वर्ष तक केवल छाछ के आधार पर रहे। किशनगढ चातुर्मास पूर्ण कर वे रूपनगढ पधारे। वही उन्हो ने यह अभिग्रह ग्रहण किया। उन्होने छाछ के कल्प का भी त्याग कर दिया तथा कुछ भी ग्रहण करने की स्थिति तभी फलीभूत करने का सकल्प लिया जव तेरह बोल फलित होगे। वे तेरह बोल थे—

१ पति पत्नी निवेदन करे
२ पत्नी के केश खुले हो
३. गोद मे वच्चा हो
४ पत्नी केसरिया वस्त्र धारण किये हो
५ पति के कान पर कलम हो
६ पति के हाथ मे कागज हो
७ घर मे उस दिन खीर वनी हो
८ कासे के कटोरे मे खीर हो
९ चार वच्चे खीर खाने का आग्रह करे
१० पति कहे कि छाछ नही, खीर वहरो
११ पति-पत्नी की आँखो मे आँसू हो
१२ वे आजन्म शील व्रत ग्रहण करे
१३ वे रात्रिभोजन का त्याग करे

तपस्वीजी द्वारा छाछ के परित्याग की खवर चारो तरफ फैल गई। अनुमान लगाया कि अवश्य ही पुन कोई अभिग्रह ग्रहण किया गया होगा। जिधर से वे विचरते लोगो की दृष्टि सन्त पर ही लगी रहती। वे सोचते कि सम्भव है उनके अभिग्रह के फलने का सौभाग्य उन्हे प्राप्त हो। पर समय गुजरता गया। मुनिवर अभिग्रह के फलने की शोध मे और अधिक आत्म-केन्द्रित होते गये। एक स्थिति मे तो वे इस शोध से भी विमुख हो गये। वे उसके लिए अपनी शोध पर विराम लगाकर निश्चित हो गये। सम्भव है उन्होने सोचा हो, जव इसका फलना सम्भव ही नही हो तव इसके वावत कोई चिन्ता क्यो की जाय।

यह कोई ऐसी स्थिति तो है नही कि इसके लिए किसी को सकेत किया जाये। कोई सिफारिश की जाये। जव विगत ही किसी को मालूम नही है तो भला

कोई कैसे और क्या प्रयास कर सकता है? साधक के इस अभिग्रह से लोगो को पीडा होती थी परन्तु साधक तो और अधिक दिव्य होता चला गया। उसे तो अपनी आत्म-साधना मे ही सुख मिलता था।

अनायास ही एक दिन वे बोल चरितार्थ होने लगे। एक आवास पर उनसे आहार का निवेदन किया गया। उस समय घर मे खीर बनी थी। बच्चे आग्रह कर रहे थे। कासे के कटोरे मे ही खीर थी। माँ की गोद मे एक बच्चा था। सिर खुला, बाल फैले हुऐ थे। उसके पति तहसीलदार श्री जवाहरलालजी महता कुछ लिखने का कार्य कर रहे थे। तपस्वीजी का आगमन सुन काम करते-करते कलम कान पर रखकर हाथ मे कागज लिये चले आये। आग्रह किया—छाछ नही, खीर बहरो। पत्नी के वस्त्रो का रग भी केसरिया ही था। १० बोल फल रहे थे, पर बोल तो कुल तेरह थे। उनकी समग्र पूर्ति आवश्यक थी। अत सन्त ने वापस मुड जाना ही श्रेयस्कर माना।

इस दुर्भाग्य पर सहसा दम्पति की आँखो मे आँसू छलक पडे। अश्रुपूरित नयनो के साथ कहा—कृपा करो, हम आजन्म शील साधना करेंगे, रात्रि भोजन का परित्याग करेगे। मुनिवर ने मुडते कदम रोक लिये। आहार ग्रहण किया। चारो ओर तत्काल खबर हो गई। लोग जुट के जुट जुटने लगे। जय-जयकार होने लगी। सन्त की जयकार। दम्पति के सौभाग्य की जयकार। रूपनगढ मे उस दिन हर्षोल्लास का ऐसा वातावरण छाया कि लोगो के पाँव जमीन पर ही नही टिकते थे। दम्पति को अनेको ने अनेकविध बधाइयाँ दी। अनेक लोगो ने अनेकविध सकल्प ग्रहण किये। कई ने कई प्रकार के त्याग किये। वह दिन अपूर्व साधनामयता मे दीप्त हो उठा।

लोग दौड-दौडकर उस आवास पर आ रहे थे। निकटस्थ गाँवो से भी अनेक लोग आये। सन्त के दर्शन कर कृतार्थ हुए। दम्पति के सौभाग्य की सराहना हुई। हर मुँह एक ही चर्चा थी। गाँव की उस गली के आवास पर जैसे एक मेला सा लगा था जो सन्त के ठिकाने तक विस्तार पा रहा था।

तपस्या और साधना के प्रति लोगो मे एक अनूठी आस्था उभरी। जो अभिग्रह की बाबत नही जानते थे, वे भी जान गये। अनकहे ही उनके फलीभूत होने को वे चमत्कार ही मानते थे।

पर वस्तुत यह चमत्कार से अधिक साधक की साधना की अपूर्वता थी। किसी एक व्यक्ति की सोच के अनुरूप वातावरण का निर्माण होता चला जाय और एक असम्भव भी सम्भाव्य की परिधि मे आ जाये, यह एक प्रकार से आत्मसाम्य की ही तो स्थिति है। आत्मा की शक्ति, आत्मा की एकाग्रता व आत्मा से आत्मा के परस्पर सम्बन्ध को ही तो यह प्रकट करता है।

□

३

एक चैतन्य व्यक्ति-दर्शन

स्व. गुरुदेव श्री कजोड़ीमलजी म.

गुरुदेव श्री कजोडीमलजी महाराज को हम अत्यन्त जागरूक, चैतन्यपूर्ण व्यक्तित्व के रूप मे स्मृत करते है। वे ज्योतिरूप है, ज्योतिर्मय है। एक ऐसी लौ जो तन्मय होकर दीपित है। तप्त ज्योत्स्ना वातावरण को आलोकमय वना रही है। कुछ वुझे मन आते है और उस लौ मे लौ लगाकर 'प्रकाशित हो उठते है। उनका वुझापन दीप्ति से भर उठता है। जिस ज्योति मे ऐसी अलौकिकता है उस ज्योति के आधार पुरुष गुरुदेव को मै मन ही मन प्रणाम करता हू।

इतनी अधिक दिव्यता, ऐसी अनूठी भव्यता के वावजूद वे सारल्य की प्रतिमूर्ति है। ऐसी मूर्ति जिसके स्मरण-मात्र से सारी उलझने सुलझाव ग्रहण करने लगती है। एक सहजता जीवन के विकास-पथ पर दृश्यमान होने लगती है। जो जीवन मे इतनी सहजता घोल दे, ऐसे घुलनशील व्यक्तित्व को मेरे शत-शत अभिवादन अर्पित है।

सर्व-स्वार्थो से ऊपर उठा व्यक्तित्व जैसे वात्सल्य का आगार वन जाता है वैसे ममत्व का धारक है उनका व्यक्तित्व। एक सस्पर्श मात्र से हर कोई स्वर्णमय हो उठता है, ऐसे पारस-स्पर्श का अवधारक व्यक्तित्व सघ मे हुआ यह एक उपलब्धि ही कही जायेगी।

सघ मे उन्होने प्राण फूके। जैसे कोई शखनाद अपनी प्रतीति देता है वैसा ही निनाद उन्होने सघ की उजागरता के लिये किया। सघ को उन्होने अपने अन्यतम व्यक्तित्व का आभरण उतार कर पहना दिया। वे संघ मे चैतन्य के सस्थापक थे। उन्होने सघ मे संघीय भावना प्रसारित की। 'मैं अपने लिये' के स्थान पर 'मैं सवके लिये'। 'मैं एकाकी' की जगह 'हम सव' की भावना कूट-कूट कर भरी।

अनूठा आत्म-बल था उनमे। वे महाबली थे। भौतिक बल व्यक्ति मे आत्म श्लाघा की प्रवृत्ति को प्रवेश दे देता है और वह उस झौंक मे कुछ भी अनिष्ट करने से नही कतराता। जब कि आत्म-बल व्यक्ति की आत्मा को उच्चस्थ स्थिति की ओर अग्रसर करता है। यह उनका अनुपमेय आत्म-बल ही था कि अपने जीवन काल मे ३ दिन के उपवास से बढकर १५ दिन के सख्यातीत उपवास किये। ३१ दिनो का ३१ बार पानी के आधार पर तपाराधन किया। इतना ही नही, ४१ दिन और फिर ४५ दिनो की अनेक बार तपस्या की।

वे एक ऐसे श्रमण थे, जिनमे कतई सकुचितता नही थी। वे समन्वय की उदारता से परिपूर्ण थे। सौमनस्य उनका प्रिय विषय था। उनके लिए व्यक्ति से अधिक उसकी पारस्परिकता का महत्व था। वे परस्पर सौहार्द के लिये प्रेरणा देते रहते थे।

वैशिष्ट्य के वे केन्द्र-स्थल थे। जो भी उनके सम्पर्क-सान्निध्य मे आया, उनके प्रति समर्पित हो उठा। वे श्रद्धा के ऐसे केन्द्र बन गये जिनके सामीप्य के लिये जन-जन मे एक तृष्णा का उदय हो उठा। वे एक ऐसी प्यास बन गये जो कभी बुझती न थी।

अनता-अनत प्यास, काल के क्रम को लाघ कर सुदूर चली जाने वाली प्यास। एक उत्कट जिज्ञासा, एक उत्कट अभिलाषा। कोई भी प्रतिघात, जिसे धुँधला न बना सके, कोई भी व्याघात जिसे खण्डित न कर सके, कोई भी आघात जिसे विमुख न कर सके।

वे सामान्य व्यक्ति नही, असामान्य स्थिति के वहेता थे। वे ऋजुता और मृदुता के अद्भुत सगम थे। उनमे माधुर्य था, उनमे दमक थी, यूँ कहूँ कि वे उत्फुल्लता के अवधारक थे।

वेगू (राजस्थान) उनका जन्म स्थान था। पिताजी श्री घासीलालजी कोठारी को उनके पिता होने का गौरव प्राप्त था। माता श्रीमती सिगारबाई को उनकी माता होने का सुख मिला था। सवत् १९३६ मे जन्म हुआ। ठीक २२ साल बाद तत्कालीन आचार्य श्री प्रतापचन्दजी महाराज के सान्निध्य मे माडलगढ मे जिनदीक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार श्रद्धेय श्री कजोडीमलजी महाराज का व्यक्तित्व विविध विशेषताओ मे ओत-प्रोत रहा है। वे एकता के समर्थ क्रान्तिकारी पुरुष थे। स्थानकवासी सम्प्रदायो के विलय मे आपश्री ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की थी। इस पर सुखद सत्य तो यह है कि उन्होने कभी अपने आप को प्रचारित नही किया। अन्त मे गुरुदेव की जन्म जयन्ती पर मैं अपनी ओर से विनम्र श्रद्धा सुमन अर्पित करता हू। □

४
उन्हें हम कैसे भूलें ?

व्यक्ति और स्मृति ।
स्मृति और व्यक्ति !!
—व्यक्ति अमर होता है या उसकी स्मृतिया अमर है ?
प्रश्न सीधा नही है ।
पर सटीक तो है ।

जो अतीत हो जाता है, वह स्मृतियो की सीढी पर चढकर वर्तमान पुरुष के मस्तिष्क मे ऐसे रुप जाता है, जैसे रेतीले मैदानो मे विशाल वट-वृक्ष । वट की आकृति ठीक मस्तिष्क की तरह होती है । आप जरा अपनी निकट अतीत की स्मृतियो को कुरेदे । आप पायेंगे, वट-वृक्ष केवल मस्तिष्क की तरह वृत्ताकार ही नही होता, उसकी दाढी जमीन तक पहुँचती है और वह दूसरे वट-वृक्षो को जन्म देती है ।

अतीत हुए महापुरुष वट के समान मस्तिष्क मे आकार ही नही लेते उनका आचार या कृतित्व वट-वृक्ष की दाढी की तरह वर्तमान पुरुषो को आचारनिष्ठ वनाता है ।

सन्त दिग् और काल से अपर उठ जाता है । सन्त मे तप तरगे, वैराग्य तरगे और योग तरगे होती है । उनके अतीत हो जाने पर देह और मन द्वारा स्पर्शित तरगे शताब्दियो तक पीढी दर पीढी जीव से शिव और जैन से जिन होने की पावन प्रेरणा देती रहती है ।

—तो आइये आज हम ऐसे चार अतीत मत पुरुषो से आपका परिचय कराते है जो जैन से जिनत्व की ओर वढने के लिए जीवन को तपाग्नि मे झोक-झोक कर कुन्दन वन गए ।

तपस्वीश्रेष्ठ श्री कजोड़ीमलजी म०
अनाम तपस्वी श्री भूरालालजी म०
अनुज सहोदर श्री छोगालालजी म० एवं
श्री गोकुलचन्द्रजी महाराज ।

—मेदपाटीय वसुन्धरा के इन चार अमर महाभिव्रतियो ने एक साथ एक शिव—सकल्प किया था। इन्होंने मन ही मन निश्चय की निर्मल रेखा खींची थी, अपने-अपने मन पंजोखे और गुरु-चरणो मे निवेदित हुए। बोले—हम गुरु-चरणों की धूल को अपने मस्तक पर लगाकर कहते है कि आज से हम जिनत्व की अक्षर-अमर साधना करना चाहते है।

मेदपाट मेरुमणि श्री प्रतापचन्द्रजी म० ने इन चारो भीष्मव्रतियो को आचारधर्म की दीक्षा प्रदान की और कहा—"जैन से जिनत्व प्राप्त करने का यह सकल्प सफल तथा सार्थक हो, यही गुरु के आकाशवत् हृदय की शुभाशीष है—तुम्हारे लिए।"

गुरु का सच्चे हृदय से मिला आशीर्वाद इन महत्पुरुषो मे किस-किस प्रकार से जीवत हुआ इन्ही तथ्यो की क्रमश हम चर्चा कर रहे है।

इनकी अलग-अलग गुण गौरव गरिमा की चर्चा करने से पूर्व एक सामूहिक अवलोकन करना भी असगत न होगा।

चारो सतो ने एक साथ एक ही स्थान पर मेवाड की शस्य श्यामला भूमि पर माडलगढ मे मृगसर कृष्णा २ को भागवती दीक्षा का व्रत ग्रहण किया। चारो ने मत्रणा की। चारो ने जैसे चार दिशाओ की सूचक एक-एक विशेपता मे महारथ प्राप्त करने के प्रतियोगात्मक वैशिष्ट्य का चुनाव किया।

समकालीनता, विचरण, आचरण, जैनतपाचार आदि तथ्यो को मूलाचार मानकर चारो ने चार दिशाये पकडली थी—

एक ने ममता रहित ममता
एक ने तप की गोपनीयता
एक ने समन्वय की वरीयता
एक ने सेवाव्रत की कठिनता

इस प्रकार चारो ने चार दिशायें पकडी। अपने-अपने सलक्ष्यो को प्राप्त करने मे वहाँ तक अग्रसरित हुए जहाँ तक क्षितिज का छोर था। क्षितिज के उन छोरो को छू लेने की क्षमता हम मे कहाँ है। उसे छू लेना तो बहुत बड़ी बात होगी परन्तु हम वहाँ तक आँखे पसार कर भी देख पाने मे आज अपने को असमर्थ पा रहे है। वे तो अपने-अपने लक्ष्यो की दिशा मे क्षितिज के उस छोर तक पहुँच गए, जहाँ हमे बरबस यह कहना पड़ता है—

तुम उस पार हो
मैं इस पार हूँ ।
कहाँ से पाऊँ
तुम्हारी सी विमलता
—मैं इस पार हूँ ।

तभी तो हम यह कहने को आज विवश हो रहे है । अढाई हजार साधु-साध्वियो का यह विमल-अमल 'श्रमणसघ' जो वन गया है, वह यो ही नही वन गया ।' इसमे अनाम साधक श्री छोगालालजी म० की समन्वय भावना सतही तौर पर काम कर रही है । इस 'महा श्रमणसघ' के गठन से पूर्व समय-समय पर प्रातीय या क्षेत्रीय सम्मेलनो का आयोजन होता रहा । उसमे गुरुदेव श्री छोगालालजी म० ने सर्वप्रथम अपनी सप्रदाय के विलीनीकरण की घोषणा करके साधुओ का मनोवल तैयार किया था । जैसे उनकी साधना गुप्त थी, वैसे ही सगठन के प्रति उनका जो 'समभाव' था, वह भी गुप्त सहयोगी की तरह 'गुप्त सगठन तप' था ।

वे कहने मे, प्रचार-प्रसार मे, विस्तार मे या प्रचारित-प्रसारित होने मे विश्वास नही करते थे । उनके मन मे एक साध थी । सगठन का उनके मन मे एक लावा था । साधुओ के समान आचार-विचार की एक आचार सहिता वनाने की उनमे पराकाष्ठा की धुन थी । यही कारण है कि उन्होने सबसे पहले साधुओ को आहूत किया था—पुकारा था कि तुम घर और जन तजकर साधुत्व के मैदान मे कूद पडे हो तो फिर शिष्यवाद के मोह की शृखला मे क्यो आवद्ध होना चाहते हो ? क्यो नही कह देते कि हमारा एक 'आचार्य' होगा और भविष्य मे उसी के सव शिष्य वनेंगे ।

सम्प्रदायवाद के खूँटो को उखाड फेकने की इससे वढकर शायद और कोई विचार क्राति हो भी क्या सकती थी ?

मुनि चतुष्टय ने अपने-अपने तरीके मे साधु सम्मेलन व श्रमण सघ के गठन मे योगदान किया था ।

ये मुनि मात्र सामाजिक क्षेत्र मे ही महत्वपूर्ण कार्य कर, अलम् इति नही हो गए थे । इन्होंने अपने-अपने लक्ष्यो मे क्षितिज तक पहुँचकर ही पति माँस लिया था । अत हम उन्हे कैसे भूलें ? वस्तुत- वे भूलने-विसरने के लिए नही, अपितु अपने-अपने मन को प्रेरणा के आलोक से आलोकित करने के लिए हैं, प्रकाशित करने के लिए है । □

५

तपस्वी मनस्वी आचार्य श्री नेमीचन्द्रजी म०

वेगूँ के राज्य परिवार के प्रमुख व्यक्तियो मे से थे–रावजी । बडे ही प्रभावी, बडे ही प्रिय । बडी धाक थी, बडा दबदबा था, बडी पूछ थी। राज्य परिवार मे भी और जन-जन मे भी । एक लोकप्रिय छवि था वह रवि ।

वह रवि एक दिन अस्त हो गया । सूरज जब-जब अस्त होता है तो फिर नया सवेरा लेकर आता है, पुन उदित होकर । पर रात्रि ने देह त्यागी तो लपटो ने उसे राख मे बदल दिया, देह भस्मसात हो गई । कोई भी सम्भावना उनके फिर जी उठने की न थी ।

वेगूँ का एक लाडला कुछ सोच रहा था। चाहे कितना भी प्रभाव डाल लो, चाहे कितनी भी धाक जमा लो, कुछ काम का नही । वक्त का बनजारा आता है और जिन्दगी की चौपड बटोर कर चला जाता है । फिर न कोई चाल शेष रहती है, फिर न कोई मारा-मारी ।

वह सोच रहा था, देह नश्वर है । इसकी नश्वरता के साथ ही कोई नियत समय नही है । कभी भी सासो की इति सम्भव है । सासो के सितार का तार कभी भी टूट सकता है । कभी भी जीवन का बुलबुला फूट सकता है, कभी भी पल-पल जलता जीवन -दीप बुझ सकता है । कभी भी कुछ भी हो सकता है ।

वह सोच रहा था, यह नियति सबकी है । राजा की भी, रंक की भी । न उसे धन से रोका जा सकता है, न जतन से ही । उसे जब भी आना होगा, आएगी । मौत का एक झपाटा चलती-फिरती देह को निष्प्राण कर देता है ।

वह सोच रहा था, क्या यह प्रवचना नही ? क्या यह विडम्बना नही ? यहाँ आकर मनुष्य कितना विवश है । स्वतन्त्रता की हर चेतना इस गलफाम के हाथो चढते ही घिघियाने लगती है ।

कौन मरना चाहता है ? सब तो जीना चाहते है। भगवान महावीर की वाणी ने भी तो इसकी पुष्टि करदी है। वे कहते है कि सब जीना चाहते है, इसलिए किसी के मरने के निमित्त मत बनो। उन्होंने इसी आधार पर अहिंसा का मन्त्र दिया।

हर जीव मरण करता है। क्या महावीर, बुद्ध, राम मौत के कराल गाल मे नही समाए। पर उन्होने मौत को बढकर ग्रहण किया। वे मौत से घबराए नही, कैसे आई उनमे ऐसी जीवतता ?

वह सोच रहा था। क्या यही जीवतता हर किसी के लिए सम्भव नही ? उसी ने प्रश्न किया, उसी ने उत्तर खोजा और जीवतता का रहस्य वह जान गया। जीवन के प्रति अनुरक्ति से वह विलग हो गया। उसे जीवतता मे रस आने लगा। उसे जीवन मे रागत्व व्यर्थ लगा। मन मे मथन हुआ। सारा मोह विसर्जित हो गया।

उसने सोचना शुरू किया। उसने विचारो को क्रम दिया। उसने सोचा, वह भी जीवन को अपूर्व सार्थकता देगा। जीवन मे अनन्यता भर देगा। रावजी की मृत्यु ने उसे झिझोड कर रख दिया। वह सुसुप्ति से जाग उठा था। उसे सत्य का बोध हुआ। जीवन-व्यापार बेमानी लगने लगा। तय किया कि वह दीक्षा लेगा। निश्चय किया कि वह विराग-पथ का यात्री बनेगा।

वह लक्ष्य के प्रति समर्पित होने को आतुर हो उठा। वह आने-जाने के सिलसिले पर विराम लगाना चाहता था। उसे अहसास हुआ कि देर-सबेर वह इस लक्ष्य को पा लेगा। किन्तु पाएगा कैसे ? जब वह उसी पथ पर चलेगा तभी तो।

उसने सकल्प व्यक्त कर दिया। उसे प्रलोभन दिये गये, भय दिखाया गया, रोकने के प्रयत्न किये गये। पर रावजी की मौत उसके मन मे एक ऐसा बीज अकुरित कर चुकी थी जिसमे प्रस्फुटन हो चुका था और वह आकार लेने लगा था। अन्तत उसने दीक्षा ग्रहण कर ली।

विरागमय जीवन तो एक साधना थी। इस साधना को श्रेष्ठता सौपने के लिए अब उसे प्रयत्नशील होना था। वह जुट गया, जुझ गया। बेगूँ का वह लाडला नेमीचन्द्र जो अब मुनि नेमीचन्द्र था तपस्या मे तपने लगा। वह कचन रूप मे निखरने लगा। उसमे अनमोल तत्व प्रविष्ट होने लगे। वह खप गया।

तप के अनेक कीर्तिमान उन्होने स्थापित कर दिये। या कहे कीर्तिमान सम्मान उसकी राह मे अगवानी करने के लिए खडे हो गये। निरन्तर १७ वर्ष गर्मी की आतापना सही। अन्तर मे तप था, बाहर घनाताप था। सोचिये, कितने उष्ण हो उठे होगे वे। पर यह उष्णता बडी शाति प्रदान करती थी। हैं

न बडी अजीव वात। कैसा अनूठापन था। उष्णता की ग्राह्यता पर पा रहे थे प्रशांत। यही तो विशिष्टता है इस अनुपमेयता की। साधना से मनुष्य विपरीतता पा लेता है।

तप क्या है ? तप सहनशीलता को व्यक्त करता है। सहना और सहने की सीमा को विस्तार देना। इतना असीम विस्तार कि साधक स्वय परिधि बन जाए। स्वय विशद्ता ही बन जाए। एक ऐसी विशाल परिधि जिसमे सब कुछ समा जाए। जीवन की हर गुत्थी सुलझ जाए।

तत्व को जान लिया। अब उसे उद्घाटित करने लगे। उनकी चर्चाये इतनी पुष्ट और परिपक्व थी कि कोई भी उन्हे नकार सकने की स्थिति मे नही था। वे गम्भीर शास्त्रज्ञ थे।

तप जो नही कर पाते है वे तपस्वी को नमन कर उसका अभिवादन कर तप का लाभ लेते है। पर यह उधार का लाभ किस काम का ? लाभ तो वही सच्चा है, जो स्व-अर्जित हो। अपने पसीने की कमाई ही सुख, शान्ति व समृद्धि देती है।

तप की विगत जानें, तपी की निष्ठा को पहचानें और स्वय को उसी के समान दिव्य बनाने के लिये जुट जाये। यही धर्मानुरागियो के लिये अभीष्ट है।

साधना और तप की कई श्रेणियां है, कई और तरीके है। अपनी आत्म-पहचान के इन ससाधनो मे है—स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, सामायिक, तपश्चर्या। ये सब चर्याये व्यक्ति को उसी प्रकार निखारती है जैसे मटके दर मटके पानी फिल्टर होता है।

आचार्य नेमीचन्द्रजी महाराज के आचार्य पदारोहण का यह शताब्दी वर्ष है।

वे विभूति थे, अन्यतम थे। किन्तु हमे केवल उनकी प्रशसा कर ही खानापूर्ति नही कर लेना हे। हमे उपरोक्त चर्चाओ मे अपने आपको प्रयुक्त करना है, ताकि हम निखरते चले जाये।

यदि जीवन मे निखार है, जीवन मे सवार है तो हमारी हर क्रिया साधना का स्वरूप होगी। विभूतियो के प्रमाण हमे यही प्रेरणा देते रहते है। प्रमाद का परित्याग और धर्मानुराग का स्वीकार निश्चय ही हमे सर्व दुश्चिताओ, दुर्दम्य स्थितियो से उवारेगी। इस तथ्य को जानकर यदि हम जीवन की उठान के इन साधनो को अपनाये तो यह हमारी पूज्य आचार्यश्री के प्रति सच्ची श्रद्धाजलि होगी। पुन: दोहराता हू उन साधनो की विगत—

स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, सामायिक, तपश्चर्या। इनके द्वारा हम स्वय को जाने, माने और तपाने मे सलग्न हो। यही सार्थकता है, यही सर्वग्राह्यता है। ☐

६

जैन दर्शन के दिव्य अध्येता—महात्मा गाँधी

अगर मैं कहूँ कि महात्मा गाँधी सच्चे जैन थे तो यह चौकने की बात नही है। जैन धर्म के हार्द को गाँधी ने बहुत गहराई से समझा है। हालाँकि इसमे रायचन्दभाई की प्रेरणा विशेष रही, पर सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की जो प्रेरणा गाँधीजी ने जन सामान्य को दी वह जैन दर्शन की आधार-भूमि है। ये सकल्प, ये व्रत जैन दर्शन मे बहुमान्य स्वरूप है।

महात्मा गाँधी एक आत्मानुरागी पुरुष थे। आत्मा से परमात्मा तक पहुँचने के वे एक सेतु बने। जैन धर्म मे आत्मा का जो विशेष महत्व है उससे कौन परिचित नही। 'आत्मा ही परमात्मा है' इस अवधारणा ने हर व्यक्ति मे आत्म-गरिमा को जागृत करने के रास्ते खोले। गाँधी इसी रास्ते पर चलकर वढे और न केवल अपने जीवन मे वरन् राजनीति मे भी इसी आत्म-भाव को उन्होने स्थापित किया।

जैन दर्शन मे ईश्वरवाद का निषेध है। जैन साधक ईश्वर को खोजने अन्यत्र नही जाता। अपनी ही आत्मा मे विरमण को ही वह महत्व देता है। गाँधी भी ईश्वर को खोजने एकान्त मे नही गये। जन-जन मे उन्होने परमात्मा की तलाश की। किसी भी आत्मा की उन्होने अवहेलना नही की। गाँधी को जन-सेवा मे ही एकान्त वोध होता था।

आत्मा के प्रति इस अनुराग के कारण ही गाँधी हृदय की शुद्धि पर वल दे पाये। वे किसी भी कार्य को मानव से जोडकर ही देखते थे। इसलिए मानव मात्र का उन पर अपार विश्वास था।

जैन साधना मे उपवास का विशेष महत्व है। इससे आत्मशुद्धि भी होती है। गाँधी ने भी कठिन स्थितियो मे उपवास का सहारा लिया। पर वह उपवास केवल भूखे रहने से सन्दर्भित नही था, उसमे क्षण-क्षण आत्म-परिष्कार की वात जुड़ी थी।

गाँधी की राजनीति एक प्रकार से लोकनीति ही थी। इसलिए उनकी राजनीति मे अध्यात्म का अंश आया। उनकी अखण्ड साधना लोकनीति की थी इसलिए वे स्वराज्य के वाद वायसराय भवन को अस्पताल मे बदल देने की वात कह सके। उन्होने काग्रेस को 'लोक सेवक सघ' मे वदल देने की वात कही। पर ऐसा नही हुआ और एक नैतिक शक्ति देश मे पैदा होते-होते रह गई।

गाँधी लोक से, हर आत्मा से जुडना चाहते थे। वे एक समूह मे या एक व्यक्ति मे शक्ति नही चाहते थे। वे स्वराज्य की वजाय सर्वराज्य, सर्व की सत्ता को महत्व देते थे। वे चाहते थे जनता को जगाना और राज्य का क्षय कर देना। जनता के अपने लोक सगठन राज्य करे।

आत्म सशोधन को गाँधी ने महत्व दिया। भीतर के दोष, न्यूनता का निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण और निराकरण तथा सशोधन करना चाहिए। गाँधी ने आत्म-वल का व्यापक प्रयोग किया। सत्याग्रह को गाँधी ने प्रतीकार पैदा करने वाली युक्ति के रूप मे नही अपनाया। सत्याग्रह को वे धीरज से व्यवहार मे लेने की वात कहते थे, यही उन्होने किया। सत्याग्रह मे धीरजपूर्वक अपने विचार समझाने की वात पर उन्होने जोर दिया। सत्याग्रह का सर्वोत्तम शुद्ध स्वरूप यह है कि एक रीति से न समझे, दूसरी से समझाये। सत्याग्रह का मतलव डराना, धमकाना नही, वह तो प्रेम की पराकाष्ठा है।

एक वात और ध्यान देने योग्य है। सत्याग्रह का स्वरूप आज के सन्दर्भ मे कुछ और ही होता। स्वय गाँधी वदल देते। सत्याग्रह का स्वरूप आज की स्थिति के अनुसार वे ढालते। गाँधी सदा स्थिति-सापेक्ष रहे। सत्याग्रह का अस्तित्व उस समय अग्रेजो को निकाल वाहर करने का था पर अव उसकी क्या जरूरत रही? गाँधी होते तो उसे और अधिक रचनात्मक वनाते। वे सत्य का पल्ला नही छोडते पर उसमे अनुकूलता लाते।

गाँधी कहते थे—मै जो कुछ कर रहा हूँ, वह केवल भारत के प्रेम से प्रेरित होकर ही नही, वल्कि इगलैण्ड के प्रति प्रेम से प्रेरित होकर भी कर रहा हूँ। गाँधीजी को सत्य के प्रति इतना अनन्य विश्वास था कि वे कहते थे—'यदि एक भी पूर्ण सत्याग्रही हो तो उससे जगत के सारे अन्याय दूर हो सकते है।'

गाँधी की दिव्यता के दर्शी विनोवा भावे ने कहा है—महात्मा गाँधी सूर्य की तरह असख्य किरणो वाले थे। गाँधी के कार्य का तरीका विचित्र था। वे ही आदेश देते और वे ही पालन करने निकल पडते। सूर्य का कार्य भी कुछ ऐसा ही है। दपदपाते आग के गोले के तेवर मे एक आदेश है, और किरणो के माध्यम से उसका परिपालन होता है।

गाँधी ने कहा—'हिंसा का प्रतीकार अहिंसा से करो, असत्य का सत्य से।' वे कहते—'हम निर्वेद रहेंगे और सामना भी करेंगे।' यह एक ऐसी युक्ति थी जिसके आगे शस्त्र भी बेकार हो गये। व्यक्ति मे आत्म-विश्वास निर्भयता जागी।

दु खियो के लिए, त्रसितो के लिए गाँधी के मन मे कितनी पीडा थी ? इसका उदाहरण है जब स्वराज्य आया, दिल्ली तथा बडे-बडे शहरो मे रोशनियाँ हुईं, उत्सव मनाये गये, उस वक्त गाँधी नोआखाली मे पदयात्रा कर रहे थे और दु खितो के आँसू पोंछने के काम मे लगे थे।

वे कहते थे कि—प्रत्येक काम मे इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उससे गरीबो को क्या मदद मिलती है ? इस तरह एक-एक आदमी को सोचना चाहिए।

गोलमेज परिषद् मे उन्होने कहा—मै नम्रतापूर्वक स्वराज्य की माँग करता हूँ क्योकि उसके बिना हिन्दुस्तान के गरीबो का उद्धार होने वाला नही है। जैन तीर्थंकरो, विशेषकर भगवान महावीर ने समाज के निचले तबको के उद्धार के लिए बहुत बडा कार्य किया। गाँधी ने उससे काफी प्रेरणा ली। गोलमेज परिषद् के समय वे लन्दन मे अत्यन्त गरीब लोगो की बस्ती मे ठहरे।

जैन दर्शन मे अनेकान्तवाद की चर्चा है। वे अपने सत्य को औरो के सत्य से जोडकर देखने मे बल देते है। अपने प्राप्त सत्य को ही सम्पूर्ण नही मानते। गाँधी भी कहते है—"व्यक्ति के जीवन मे जो दर्शन हुआ, उसे अश दर्शन समझो। अल्प को पूर्ण मत समझो।"

गाँधी पल-पल परिष्करण को महत्व देते थे। जो धारणा उन्होने बीते कल बनाई थी यदि आज उन्हे वह गलत लगती है तो वे उसे बदल देते है। यह उनकी सत्य के प्रति सजग दृष्टि का परिचायक है।

और अन्त मे मैं विनोबा के उस कथन को उद्धृत करता हूँ जो गाँधी की दिव्यता को दर्शाने वाला कथन है—

"गाँधीजी जैसे महापुरुष का प्रभाव दो-चार या पन्द्रह-बीस वर्षो मे नही आँका जा सकता। वह तो अत्यन्त दूरगामी और व्यापक होता है। उन्होने जो विचार दिए है वे अमर है। लाख प्रहार होने पर भी जीवित रहेंगे। भारत मे जीवित नही रहेंगे तो फिलस्तीन मे, इंगलैण्ड मे या अमेरिका मे जीवित रहेंगे। इतने प्राणवान विचार है वे।"

गाँधी की इस दिव्यता मे जैन दर्शन का योग भी आपने जान लिया। इस आधार पर ही मैं पुन. इस लेख के प्रारम्भ के शब्द दोहराता हूँ कि—"महात्मा गाँधी सच्चे जैन थे।"

□

